तथा मोक्ष की इच्छा प्राप्त हो सकती है, विद्वान् तथा सामान्य जन नरनारी बालक बालिका सभी इससे लाभ ले सकते हैं। खूबी यह है, कि इसे अकेला भी केवल एक लकड़ी का चौपहल पाँसा डाल कर खेल सकता है, खेलने की रीति [कुन्जी] प्रकाशित हुई है, परन्तु चौसर अप्रकाशित [प्रेस कापी] तैयार है, तथा आपकी रचित कविताएँ भजन, पूजन, स्तवनादि भी तैयार हैं यदि ये सब प्रकाशित होजांय तो सर्व साधारण मुमुक्षु-जनों को बहुत लाभ पहुंच सकता है जो उदार सज्जन छपाना चाहें वे निम्न लिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें।

उक्त वर्णीजी का जीवन समाज सेवा में ही व्यतीत हुआ है, आपका जन्म सन् १८८० में नरसिंहपुर [मध्य प्रांत] में—हुआ और वहीं आपने लौकिक शिक्षा (......) व कुछ अंग्रेजी पाई। धार्मिक ज्ञान तो आपने स्वाध्याय और सत्संग से बढ़ाया है, जो उनकी रचनाओं से प्रकट है पहिले सन् १८९७ से कुछ वर्षों तक सरकारी स्कूल की अध्यापकी की, उस समय स्थानीय जैन बालक बालिकाओं को आप आनरेरी धर्म शिक्षा देते थे, और यथावसर आस पास ग्रामों में मा० पन्नालाल जी के साथ जा २ कर उपदेश भी करते थे, पश्चात् अपने मित्र सिंघई मौजीलाल जी की प्रेरणा से सन् १९०५ में बम्बई दिगम्बर जैन प्रांतिक सभा की ओर से गुजरात प्रांत में उपदेशक रूप से भ्रमण किया। बीच में लगभग १० माह स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस में गृहपति [सुपरिन्टेन्डेन्टी] का कार्य किया, परन्तु जलवायु की अनुकूलता से वापिस उपदेशकी पर बम्बई प्रांत में आगये और गुजरात, बह्राड़, खानदेश, मध्यप्रांत, महाराष्ट्र

प्रांतादि में धर्मप्रचारार्थ भ्रमण किया, ईडर आदि स्थानों के शास्त्र भंडार खुलवाए, धर्म पाठशालाएँ व सभाएं स्थापित कराईं जैन संस्कारों का भी प्रचार किया, इत्यादि।

पश्चात् आप सन् १९१२ में लगभग ५ वर्ष तक इलाहाबाद के सुमेरुचन्द्र दिगम्बर जैन होस्टल में सुपरिन्टेडेन्ट तथा धर्मशिक्षक का कार्य करते रहे, वहां से श्रीमान् मान्यवर न्यायाचार्य पंडित गणेशप्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से सन् १९१६ में आप सागर आगए और सत्तर्कसुधातरङ्गिणी दिगम्बर जैन पाठशाला के गृहस्पति पद पर रहे। यहां उक्त वर्णी जी महाराज के सत्संग से आपको अध्यात्म रुचि होगई, दैववश यहां ही वर्णी जी की पूज्य मातेश्वरी [जमनाबाई उर्फ इन्द्रानी बहू] का अचानक ऊपर से गिर जाने के कारण सन् १९१८ में उन से सदा के लिये वियोग होगया. इस घटना से वर्णी जी के हृदय पर बड़ा आघात पहुंचा, और वह कुछ ही दिनों में संसार से उदासीनता में परिणत होगया, तभी से उन्होंने यह सवैतनिक कार्य करना छोड़ दिया और कुछ दिन बनारस विद्यालय में उदासीन रूप से ठहरे पश्चात् कुछ दिन द्रव्य क्षेत्र काल भाव का खाश अनुभव प्राप्त करने लिये, उदासीन आश्रमों व त्यागीजनों के सहवास में अनेकों जगह रहे, अंत में आपने कटनी में सन् १९१९ में श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य को अपना दीक्षादाता धर्म गुरु मानकर, मान्यवर न्या० श्रीमान् पं० गणेशप्रसाद जी वर्णीकी साक्षी से श्रावक के बारह व्रत धारण किये और अभी मध्यम श्रावक [सप्तम प्रतिमा] व्रत का पालन कर रहे हैं, घर की सम्पत्ति जो कुछ थी, उसमें से थोड़ी नक़द रकम अपने लिये

रखकर शेष सब अपने तीनों लघु भ्राताओं में विभाजित कर दी और आप निवृत्त हो गए। आपका विचार है कि इस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार 'दशमीं अनुमति-त्याग प्रतिमा तक का व्रत निर्दोष पल सकता है, क्योंकि यहाँ तक उद्दिष्ट भोजन ले सकता है, इससे आगे उद्दिष्ट विरत ग्यारह-वीं प्रतिमा व अर्जिका मुनि का धर्म निर्दोष नहीं पल सकता, क्योंकि प्रथम तो विहार का क्षेत्र और काल अनुकूल नहीं है शरीर संहनन शक्ति भी कम होगई है तिसपर श्रावकों के घरों में हमेशा शुद्ध भोजन बनता नहीं है, वे अमर्यादित अशुद्ध भोजन करने लगे हैं, इसलिये जब कोई संयमी आता है तब वे चंदोवा आदि बांधते दलते खाड़ते है।

शहरों में तो नल होजाने से पानी तक की कठिनता होगई है, इसलिये अनुद्दिष्ट आहार मिलना कष्ट साध्य या असंभव सा होगया है आपका यह भी विचार है कि 'परिग्रह-त्याग नवमी प्रतिमा' से संयमी को रेल मोटर या अन्य सवा-रियों में न चलना चाहिये, क्योंकि वे कृत कारित अनुमोदना व मन वचन काय से, द्रव्य ग्रहण करने के त्यागी हैं, इसलिये उनको निकटवर्ती क्षेत्रों में अनुकूलता व शक्ति अनुसार पांव पैदल ही भ्रमण करना चाहिये, तीर्थ यात्रा भी पैदल ही करना चाहिये, भले वर्षों में हो या न हो, वे स्वयं अपने सच्चे सिद्धान्त-ज्ञान तथा चरित्र से तीर्थ स्वरूप हैं, उनका शुद्धात्मा ही उनका तीर्थ सदा उनके पास विद्यमान है, इसलिये ग्रामोंग्राम धर्म देशना करते तथा अपने सामायिक स्वाध्यायादि धर्म साधन करते हुये, पैदल ही विहार करना चाहिये, उनको अमुक मिति पर कहीं

पहुंचने का प्रोग्राम न बनाना चाहिये और न वचन ही देना चाहिये. और न मेलों ठेलों प्रतिष्ठादिके समय बहु जन सम्मेलनों में ही जाना चाहिये क्योंकि वहां न चर्य्या ही बनती है न शांति से निराकुल होकर धर्म ध्यान ही हो सकता है, श्रावकों को भी आपका उपदेश यही रहता है कि किसी भी त्यागी संयमी को अपने नगर में आने पर निरुपद्रव स्थान अपाश्रय आदि में [जहां कोई भी जोखम न हो कि जिसके चोरी जाने का भय हो] ठहराओ, उनके पदानुसार तखत घास आदि वस्तुओं व प्रासुक जलादि का प्रबन्ध कर दो, समय २ उनकी खबर लेते रहो। .

भोजन के समय वही शुद्ध प्रासुक सादा भोजन, जो तुम करते हो, आदर से उनको करादो, भोजन में मेवा फलादि का आडम्बर मत करो न खर्चीला भोजन बनाओ, तात्पर्य—भोजन में बनावट सजावट न हो, परन्तु शुद्ध सादा ऋतु अनुकूल नित्यानुसार हो, क्योंकि आडम्बर बहुत काल या सदा नहीं चल सकता और इसलिये वह दान के मार्ग को बन्द करने व दाता और पात्र दोनों के संक्लेशता का हेतु होजाता है। तथा प्रत्येक त्यागी संयमी से उपदेश सुनो और बिचारो कि वह आगम के अनुसार है ? उनके चरित्र पर दृष्टि रखो और देखो इनमें बीतराग विज्ञानता [ज्ञान वैराग्य सहित चरित्र] वृद्धि रूप है या नहीं है ?

यदि दोष दर्शन हो तो निर्भीक होकर सुधरवाओ और जो वे न सुधारें तो बिना संकोच उनका मानना व पोषण करना छोड़दो, तथा अपने साधर्मी जनों को भी सचेत करदो, अपने यहां से बिदा करदो, उनको नवमी प्रतिमा से ऊपर न

सवारी में बैठाओ न रुपया पैसा ही दो, हां! आर्यिका तक जरूरी आगम में बताए अनुसार वस्त्र व पीछी आदि देना चाहिए, पदविरुद्ध पूजादि भी न करना चाहिए, ताकि उन्मार्ग न बढ़ने पावे।

आप त्यागमूर्ति बाबा भागीरथ जी वर्णी को ही आदर्श त्यागियों में गिनते हैं और ऐसे ही त्यागीजनों के जो बाहर भीतर एकसे हैं व जिनसे धर्म मार्ग में कोई अपवाद नहीं आता, उन्हीं का सत्समागम सदा चाहते हैं। मात्र आप भेष के पुजारी नहीं हैं और ऐसा ही परीक्षा प्रधानी होने का सब को उपदेश करते हैं। आपके आगमानुसार तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत विचारों से भरे हुए लेखों व पुस्तकों से आपकी धार्मिक श्रद्धा व निर्भीकता का भली भांति परिचय हो सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में आपने गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व का खंडन करके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का कैसी सरलता व अध्यात्म शैली से वर्णन किया है, वह तो पाठक इसे पढ़कर ही समझ सकेंगे, हम को तो मात्र इतना ही कहना है, कि वर्तमान समय में जैन समाज में और विशेष कर महिला मंडल में (स्वाध्याय के अभाव तथा अविद्या के कारण से) गृहीत मिथ्यात्वादि का बहुत प्रचार हो गया है, जिससे वे सत्य धर्म से दूर होते जा रहे हैं, तथा कर्तृत्ववाद व सम्प्रदाय (मत) का एकांत पक्ष भी बढ़ता जाता है। अतएव उनके लिये ऐसी २ पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है, ताकि वे तत्त्वार्थ का स्वरूप समझकर सन्मार्ग में अग्रसर हो अपना इहलोक तथा परलोक में कल्याण कर सकें।

लाकरोड़ा के सज्जनों ने इसको प्रकाशित कराकर समाज का उपकार किया है। अतएव वे तो धन्यवाद के पात्र हैं ही, परन्तु जो सज्जन नरनारी इसको पढ़कर व अन्यजनों को सुनाकर स्वपर आत्माओं से मिथ्यात्व को हटावेंगे वे भी धन्य-वाद के पात्र होंगे।

अन्त में एक बात कहकर वक्तव्य को समाप्त करूँगा, कि गत २॥ वर्षों से वर्णी जी का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया है तथा बिगड़ता जा रहा है फिर भी आप श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम के कार्य की देख रेख व चिन्ता रखते हैं, लेखादि व पुस्तकें भी लिखते रहते हैं, अब भ्रमण नहीं कर सकते तो भी धर्म प्रेम-वश लोगों के आग्रह से उनके साथ कभी २ चले जाते हैं। अतएव ऐसी अवस्था में जो भी वे अपनी प्रौढ़ लेखनी से लिखें व रचना करें, उसका प्रकाशन समाज कराकर जनता को लाभ पहुँचाती रहे, ऐसी प्रार्थना है और वर्णीजी स्वास्थ्य लाभ करके चिरायु होकर पवित्र जिन धर्म की सेवा करते रहें, ऐसी भावना है।

निवेदक—

(पंडित) छोटेलाल जैन परवार,

सुपरिन्टेन्डेण्ट श्वे० सो० दि० जैन,

बोर्डिङ्ग हाऊस, सलापोसरोड, अहमदाबाद।
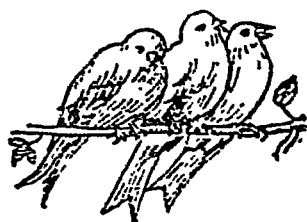
ॐ नमः सिद्धेभ्यः

सुबोधि-दर्पण

नित्य निरंजन निकल नित प्रणमों सिद्ध अनन्त ।
चर्मशरीराकार जो लोक शिखर तिष्ठंन्त ॥ १ ॥
वीतराग सर्वज्ञ जिन हित उपदेशक देव ।
तथा गुरु निर्ग्रन्थ मुनि नमूं करूं पद सेव ॥ २ ॥
आप्तकथितआगम नमूं स्याद्वाद ध्वनि सार ।
धर्म अहिंसा आदरूं भव भय नाशनहार ॥ ३ ॥
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत धर क्षमादि दश धर्म ।
भाऊं बारह भावना सोलह कारण पर्म ॥ ४ ॥
काल दोष तें जगत जन भूल सुगुरु वृप देव ।
विषय कषायन वश करत कुगुरु देव वृप सेव ॥ ५ ॥
तिन को स्थिति करण में कारण हो यह ग्रन्थ ।
लागें सन्मारग विषें पावें सुर शिव पन्थ ॥ ६ ॥
"दीप" भावनाधार हियाहि जिन मारग अनुसार ।
स्वल्प बुद्धि रचना करी बुध जन लेहु सम्हार ॥७॥

यह लोक मान्य सिद्धांत है, कि संसार के सभी प्राणी, चाहे वे मनुष्य हों, वा मनुष्येतर हों, सुख चाहते और दुःखों से डरते हैं और इस लिए वे दुःखों से बचने, या छूटने, तथा सुख प्राप्तिके लिए निरन्तर उद्यम शील रहते हैं, उनकी समस्त चेष्टाएं दुःखों से छूटने और सुख प्राप्त करने के लिये ही होती है, जैसे, खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना, देश विदेशों में यात्रा करना, व्यापार करना, पढ़ना, पढ़ाना, सोना, जागना, तीर्थ यात्रा, जप, तप, दान, पूजा, सेवा, भक्ति आदि।

यह बात दूसरी है, कि उनको उनकी इन चेष्टाओं से इच्छित फल न मिलता हो, किन्तु भावना में कोई भूल नहीं है। लक्ष्य तो सब का एक ही है।

जब सब का एक ही लक्ष्य है और सभी उद्यम शील भी रहते हैं तब क्या कारण है, कि उनको सफलता नहीं मिलती? यह प्रश्न होता है; तो उत्तर यह है, कि कितने तो अपने लक्ष्य को ही नहीं पहिचानते, किन्तु केवल उसका नाम ही रटते रहते हैं और इस लिए वे चाहे जिसको अपना लक्ष्य मान २ कर उसे पकड़ने जाते हैं, परन्तु उसी २ में धोखा खाकर दुखी होजाते हैं, निराश होकर पछताते हैं, फिर अन्यत्र जाते हैं। वहां भी धक्का खाते हैं, इसी प्रकार पागल की तरह भटकते रहते हैं, परन्तु सुख नहीं पाते। वास्तव में शीतलता प्राप्ति का इच्छुक शीतलता को जाने बिना यदि अग्नि में प्रवेश करेगा, तो जलेगा ही, इसमें सन्देह नहीं। इस लिये सब से पहिले सब ही प्राणियों को अपना लक्ष्य ठीक २ पहिचान लेना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि जिन्होंने क़दाचित् लक्ष्य तो पहिचाना है, किन्तु वे उसकी दिशा भूल रहे हैं और इसी लिए विपरीत दिशा में चाहे कितनी भी तीक्ष्ण गति से चला जाय, तो भी चलने वाला अपने लक्ष्य से अधिकाधिक दूर ही होता चला जायगा, उसे दिशा बदले सिवाय कभी भी अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा। इस लिए लक्ष्य की दिशा जानना आवश्यक है।

तीसरी बात है, लक्ष्य को पहिचान कर तथा उसकी दिशा जानकर उसी दिशा में यथोक्त मार्ग से चलना, सो यहां भी भूल होती है, अर्थात् कितनेक, लक्ष्य और दिशा को जानते पहचानते हुए भी उससे विपरीत दिशा में नेत्र बन्द करके कोई शीघ्र गति से व कोई मन्द गति से चलते रहते हैं, अथवा कई निरुद्यमी होकर भाग्य के भरोसे जहां के तहां पड़े रहते हैं, और इस लिए वे भी लक्ष्य तक नहीं पहुंचते अतः लक्ष्य को पहिचान कर तथा उसकी दिशा जानकर अपनी शक्ति के अनुसार उसी दिशा में सीधे सरल तथा निष्कंटक मार्ग से चलना चाहिए।

बस, इन्हीं तीन बातों को हम, सम्यग्दर्शन [अपने लक्ष्य की पहिचान या उस पर दृढ़ श्रद्धा या विश्वास] सम्यग्ज्ञान [लक्ष्य की दिशा जानना अर्थात् सच्चा ज्ञान] और सम्यक चारित्र [लक्ष्य की दिशा में शक्त्यनुसार ठीक २ चलना] अर्थात्—Right believe, right knowledge and right conduct भी कह सकते हैं। बस, इन तीन के ठीक होने पर लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य ही होती है, सो ही श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है:—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग होते हैं। अर्थात् इन तीनों की एकता ही मोक्ष मार्ग है।

मोक्ष ही प्राणी मात्र का लक्ष्य हो सकता है, क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख निराकुलता अर्थात् सब प्रकार की इच्छाओं तथा तिन सम्बन्धी चिंताओं से रहित अवस्था में होता है और ऐसी निराकुल दशा मोक्ष (सब प्रकार के कर्म बन्धनों से छूटने पर) में ही हो सकती है, इस लिये यह सिद्ध हुआ, कि सब का लक्ष्य मोक्ष ही होना चाहिये, परन्तु संसारी प्राणी अनादि काल से कर्म बन्धन सहित हैं और इस लिये वे दुखी हैं, कभी उनका दुख कम हो जाता है और कभी बढ़ जाता है। इस कारण वे थोड़े दुख को सुख या पुण्य मान लेते हैं और अधिक दुख को दुख या पाप मानते हैं, परन्तु वास्तव में थोड़ा दुख भी दुःख ही है वह सुख नहीं हो सकता। सुख तो वही है जिसमें किंचित् भी दुःख न हो और जिसमें कुछ भी दुःख है वह सुख नहीं हो सकता, जैसा कि कहा है:—

दोहा—जिह उतंग चढ़ फिर पतन, सो उतंग नहिं कूप।
जा सुख अंतर दुख बसे, सो सुख नहिं दुख रूप॥

परन्तु संसारी प्राणियों ने जब तक अपनी असली अवस्था का बिचार करके निश्चय नहीं किया है, तब तक वे उसको नहीं पा सकते, क्योंकि जब वे जिसको ढूंढने (खोजने) जा रहे हैं और उसको जानते पहिचानते नहीं हैं, न उन्हें उसका

सच्चा लक्षण ही मालूम है, तो भला वे उसे कैसे पा सकेंगे? भले ही वे उसका नाम रटते २ पागल हुए फिरा करें, ऐसे लोग तो जगह २ ठोकरें खाते रहेंगे। हर कोई उनको ठग सकेगा, जो कोई भी उनको कह देगा, कि जिसका तुम नाम लेते हो, वह यही है। बस, वह उससे ही चिपट जायगा, फिर कालान्तर में कोई दूसरा उसे कह देगा, अरे तूने भूल की—यह वह नहीं है, चल मैं तुझे उसे बता दूं। तब वह वहीं दौड़ जायगा—तात्पर्य—उसकी सब दौड़, धूप व्यर्थ जायगी, ठीक ऐसी दशा इन संसारी जीवों की है। इन्होंने असली [निराकुलता लक्षण वाला अतीन्द्रिय] सुख [जो मोक्ष होने पर होता है] को नहीं पहिचाना, उसकी श्रद्धा नहीं की ये लक्ष्य भ्रष्ट हुए, कर्मजन्य इन्द्रिय सुखों [विषय-भोगों] में ही सुख समझ रहे हैं, इन्हीं के लिए इनके सारे प्रयत्न हो रहे हैं, जब कभी इनको अपनी इच्छानुसार कुछ किसी अंश में प्राप्त हो जाता है, तब उसमें मग्न होकर [आपको सुखी समझने लगते हैं और जब नहीं मिलता, तब दुखी हो जाते हैं। ज्यों २ आकुलता बढ़ती है, त्यों २ दुखी होते जाते हैं और ज्यों२ वह घटती है, त्यों २ दुःख भी कम होने लगता है। वास्तव में चाह ही दुख है, कहा है:—

दोहा—चाह चमारी चूहड़ी, सब नीचन में नीच।
था तो पूरण ब्रह्म जो, चाह न होती बीच॥

प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि बड़े २ करोड़ पती, अरब पती सेठ शाह—कि जिनके पास सब प्रकार के ऐहिक सुखों की सामग्री देखी जाती है—भी दुखी रहते हैं और एक साधु जिसके पास लंगोट तक भी शरीर ढकने को नहीं है, बेफिकर हुआ,

सुख से सोता है। यह इसी लिए कि एक चाह की दाह में जलता है और दूसरा चाह से दूर रहता है इत्यादि। इस लिये सबसे पहिले अपना लक्ष्य ठीक करना अर्थात् सच्चे सुख को पहिचानना चाहिये और वह आकुलता रहित मोक्ष ही है। यदि सब इसी को अपना लक्ष्य बना लेवें, तो इनके सब प्रयत्न सफल हों और अवश्य ही उसे प्राप्त कर सकें।

वास्तव में यह सुख (मोक्ष) कोई भिन्न वस्तु नहीं है और न भिन्न स्थानों से प्राप्त होसकता है, किन्तु इन्हीं प्राणियों की जो अशुद्ध अवस्था होरही है, सो बदल कर शुद्ध होजानेका नामही मोक्ष है, वह स्वाधीन है, अपने पास है, अपना ही स्वरूप है। केवल दृष्टि बदलना है, किसीने कहा है "नुख्ता ؞ जो नीचे लग रहा है कि उसको ऊपर लगायेंगे, हम खुदा خدا को खुद हीमें देख लेंगे खुदही को जिस दम हटायेंगे हम" इस लिए सबसे पहिले हमको यह निश्चय करना चाहिये, "कि मैं एक सच्चिदानन्द स्वरूप, शुद्ध-बुद्ध नित्य निरंजन, इन्द्रिओं से अगोचर, अमूर्तिक आत्मा हूँ, और जो ये शरीरादि पदार्थ इन्द्रियों के गोचर हो रहे हैं, अथवा इनमें जो मेरी अपनत्व या परत्व अथवा इष्ट और अनिष्ट बुद्धि हो रही है, सो ये सभी मुझसे पर हैं, जड़ हैं। अथवा उनके निमित्त से उत्पन्न हुए विभाव भाव हैं, इनमें मेरा कुछ भी नहीं है, मैं जब तक इनको अपनाता रहूंगा, तब तक ये मेरे साथ लगे रहेंगे और मैं स्वाधीनत्व अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकूंगा, इस लिये मुझे चाहिये, कि इन से ममत्त्व बुद्धि हटाऊँ और जैसे २ बन सके, इस प्रकार इनसे अलग हो जाऊं, कि जिससे मेरा अधिक बिगाड़ भी न होने पावे और ये छूट भी जांय।

बस, जब यह निश्चय होगया, तो इन से छूटने का उपाय

सोचना चाहिये, अपनी दिशा जान लेना चाहिये और दिशा जान कर उस दिशा में शक्ति अनुसार चलने लगना चाहिये, यही सच्चा सुख पाने का उपाय है।

इस उपाय की सिद्धि तभी हो सकेगी, जब कि हम उन महात्माओं का—जिन्होंने इसकी सिद्धि करली है, अथवा जो इसकी सिद्धि के मार्ग में लगे हुए हैं—शरण लेवें, उनके ही मार्ग में (धर्म में) प्रवर्तें, उन्हीं के द्वारा कहे गये शास्त्रों का अध्ययन वा मनन करें, क्योंकि जिसको जहां जाना है, उसको उसी मार्ग में जाने वालों का साथ करना चाहिये, उन्हीं की शिक्षाओं पर चलना चाहिये। तात्पर्य-उन से अनन्यभाव से मिल जाना चाहिये। इस लिये हमको अब यह जानने की आवश्यकता होगी, कि वे महात्मा कौन व कैसे हैं कि जिनका शरण लेने से हम भी उन्हीं के जैसे बन सकते हैं? उत्तर-

(१) अर्हन्त देव, (२) इन्हीं के द्वारा कहा गया उपदेश [शास्त्र] और [३] निर्ग्रन्थ साधु मुनि गुरु।

इन तीनों की सामान्य पहिचान तो यह है, कि इनमें यथा संभव अहिंसा तत्त्व [Non injurys] अर्थात् वीतराग विज्ञानता पाई जानी चाहिये, अर्थात् जहाँ [जिनमें] अहिंसा [वीतराग विज्ञानता] पूर्ण रूप से पाई जावे, वही देव अर्हन्त हैं, जिन उपदेशों या ग्रन्थों में इसका यथार्थ वर्णन होवे, वही शास्त्र या आगम है और जिन महात्माओं में इसकी पूर्णता तो नहीं हो पाई है, किन्तु वे इसकी पूर्ति के प्रयत्न में लग रहे हैं और कितनेक अंशों में सफल भी हो गए हैं, शेष अंश शीघ्र ही पूर्ण होने वाले हैं, वे ही सच्चे साधु या गुरु हैं। तात्पर्य-

वीतराग-विज्ञानता ही इनका लक्षण है, सो जहाँ जहाँ जितने जितने अंशों में यह मिले, वहाँ वहां ही मोक्ष मार्ग है और जहाँ जहाँ विषय कषायों के भाव पाये जावें, वहां वहां संसार अर्थात् दुःख का मार्ग है, इसलिए अपना देव, शास्त्र तथा गुरु बनाते समय इस वीतराग विज्ञानता (अहिंसा) को अवश्य ही देख लेना चाहिए और यह वीतराग विज्ञानता केवल बाह्य रूप में ही नहीं मिलेगी, इसलिए केवल बाहर के रूप में ही मोहित होकर ठगाना नहीं चाहिए, किन्तु भले प्रकार परीक्षा करके ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सभी चमकने वाले पीले पदार्थ सोना नहीं होते, इसलिये चतुर पुरुष कसौटी पर कस कर ही सोना लेते हैं, ठगाते नहीं हैं। यह ध्यान रहे, कि जैसा खरा खोटा सोना होगा, उसके वैसे ही आभूषण बनेंगे। इसी प्रकार जैसे देव शास्त्र व गुरुओं का सम्बन्ध मिलेगा, वैसे ही फल की प्राप्ति होगी अर्थात् सच्चे वीतरागी देव शास्त्र गुरु मिलें, तो सच्चे मोक्ष मार्ग की सिद्धि होगी और रागी, द्वेषी, देव, शास्त्र, गुरु मिले, तो अनन्त दुःखों का आगार संसार ही बढ़ेगा, इसलिए जब कि एक पैसे की हण्डी भी खूब ठोक बजा कर, परीक्षा करके लेते हैं, जो अल्प मूल्य की अल्प प्रयोजन सिद्ध करने वाली वस्तु है, तो देव, शास्त्र, गुरु—जिन का कि हमारे उभयलोक से सम्बन्ध है, वास्तव में जिन के ऊपर ही हमारा सर्वस्व हित निर्भर है—की परीक्षा करके ग्रहण करना यह हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए। इसलिए इनका विशेष स्वरूप अर्थात् पहिचान बताते हैं।

यद्यपि प्रथम देव (परमात्मा जो हमारा लक्ष्य है) का स्वरूप कहना चाहिए था, परन्तु ऐसा न करके यहां केवल उप-

कार दृष्टि से प्रथम गुरू का, पश्चात् शास्त्र व धर्म का स्वरूप क्रम से बतायेंगे. क्यों कि हमको देव शास्त्र व धर्म का सच्चा स्वरूप सच्चे गुरू ही के द्वारा हो सकता है, अन्यथा नहीं, एक कवि ने कहा है—

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागूं पाँय।
बलिहारी या गुरू की, गोविंद दिए बताय ॥"

इसलिए हमको सबसे पहिले गुरू की पहिचान करके ही गुरू बनाना चाहिये और पश्चात् उनके बताये हुए मार्ग पर विश्वास करके चलना चाहिये, ताकि हम निर्भय होकर सन्मार्ग में चलते हुए अपने लक्ष्य बिन्दु (सच्चा अविनाशी स्वाधीन सुख) तक पहुंच सकें, जो सद्गुरु मिल जायगे, तो हमारा बेड़ा पार हो जायगा, अन्यथा असद्गुरुओं के चक्कर में पड़ कर वह संसार समुद्र में ही डूब जायगा, इसी लिये कहा है "गुरू कीजिये जान, जो चहो आतमकल्यान" इत्यादि। इसलिए यहां पर प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद स्वामी समन्तभद्राचार्य के शब्दों में ही गुरु का लक्षण बताते हैं। यथा—

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपो-रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥"

(रत्न-करण्ड-श्रावका०)

अर्थात्—जो विषयों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कान इन पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दादि) की आशा से रहित अर्थात् इन से विरक्त हों। जो असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य तथा

सेवा, इन आजीविका सम्बन्धी तथा चक्की पीसना ऊखल में कूटना, चूल्हा जलाना, बुहारी (झाडू) लगाना, पानी भरना, पृथ्वी खोदना, वस्त्रादि धोना सम्हालना, घर बनाना, बाग़ लगाना, भोजन पकाना, रांधना, वृक्षादि बनस्पतियां कटवाना, छीलना, खोटना, पवनादि करना, कराना आदि गृहस्थी तथा स्वशरीर सम्बन्धी शृङ्गार संस्कार आदि आरम्भों से रहित हैं अर्थात् जो ऐसे कोई भी आरम्भ नहीं करते न कराते और न अनुमोदना करते हैं, कि जिन से किन्हीं त्रस (दो इन्द्री, तीन इन्द्री, चार इन्द्री तथा पांच इन्द्री) तथा स्थावर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा बनस्पति आदि एकेन्द्रिय) प्राणियों का घात हो तथा धन (पशु आदि) धान्य (अनाज आदि खाद्य पेय) क्षेत्र (खेती के योग्य जमीन, बाग़, जङ्गल, पहाड़, कन्दरादि) वस्तु (गृह मन्दिरादि) हिरण्य (मुहुर, रुपया, पैसा आदि) सुवर्ण (हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्न तथा सोना; चांदी आदि धातुएँ वा इन से बने हुए आभूषणादि) दासी (स्त्री सेविका) दास [पुरुष सेवक] कुप्य [वस्त्रादि] और भाण्ड (बासन वर्तनादि) ये बाह्य परिग्रह और मिथ्यात्व (अतत्त्व श्रद्धान याकुदेव, कुगुरु कुशास्त्र तथा हिंसायुक्त धर्म मानना) राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया. लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि और वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप भाव) इन १४ अन्तरङ्ग परिग्रहों से रहित अर्थात् बाहर और भीतर सर्वथा नग्न (दिगम्बर) कि जिनके शरीर पर एक लङ्गोट मात्र भी परिग्रह न हो, केवल शौचादि जन्य अशुचि की शुद्धि के अर्थ प्रासुक जल रखने का एक लकड़ी या मिट्टी का पात्र [कमण्डलु] किसी जीव को शरीर के हलन चलन होने या गमनागमन करने

से पुस्तक कमण्डलु उपकरण उठाने या रखने से किसी भी त्रसादि प्राणी को बाधा न पहुंचे, उनकी हिंसा न हो जाय, इसलिये उन की रक्षार्थ अर्थात् उत्तम संयम पालने का बाह्य साधन पीछी तथा निरन्तर आत्मज्ञान की रक्षा तथा वृद्धि के हेतु शास्त्र आदि उपकरणों के सिवाय अन्य कोई भी परिग्रह, कि जिससे रागादि संक्लेश भावों का निमित्त बने नहीं रखते।

जो पांच महाव्रतों को (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह त्याग) तथा पांच समितियों को [ईर्या अर्थात् चलते समय ४ हाथ भूमि आगे आगे जीव जन्तु रहित देखकर चलना, भाषा अर्थात् हितकारी, मित (आवश्यकतानुसार यथा सम्भव कम) और मधुर वचन बोलना, एषणा अर्थात् कृत कारित अनुमोदना से अपने लिए नहीं तैयार किया गया—ऐसा अनुद्दिष्ट ४६ उद्गमादि दोषों से रहित ३२ अन्तरायों को टाल कर शुद्ध प्रासुक भोजन केवल ध्यान स्वाध्याय तप संयमादि की रक्षा के लिये, न कि शरीर पोषण या स्वाद के लिए' ऊनोदर रसादि को छोड़ कर गृहस्थों के द्वारा आदर पूर्वक [नवधा भक्ति से] दिया हुआ लेना, आदान निक्षेप अर्थात् शास्त्र पीछी कमण्डलु शरीरादि शोध कर रखना, उठाना, उठना बैठना, शयन करना और व्युत्सर्ग अर्थात् मल मूत्र श्लेष्मादि जीव जन्तु रहित प्रासुक भूमि में त्याग करना] पालन करते हैं, यथा सम्भव तो मन वचन और काय इन तीनों योगों को संवरण करके गुप्ति कर देते हैं अर्थात् इनकी क्रियाओं को रोक देते हैं और परम संवर स्वरूप हो जाते हैं, परन्तु यदि ऐसा किसी समय न कर सकें अर्थात् गुप्ति रूप न रह सकें, तो ऊपर बताई हुई समिति स्वरूप प्रवर्तन करते हैं अर्थात् समिति के समय गुप्ति और गुप्ति

के समय समिति नहीं रहती, इन दोनों में से एक न एक तो रहती ही हैं। जो पांचों इन्द्रियों व अनिन्द्रिय मन को उनके मनोज्ञ अमनोज्ञ विषयों में जाने नहीं देते अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों का दमन करते हैं। जो नित्य सामायिक करते हैं अर्थात् अपने आत्मा में राग द्वेषादि परिणति न होने देकर संसार के समस्त पदार्थों में जैसे शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, नगर-बनादि सुख दुःख, जीवन-मरण-लाभ—अलाभ आदि में समता भाव रखने का अभ्यास करते हैं, इसके लिये वे निर्जन स्थानों में कम से कम ६ घड़ी अर्थात् लगभग ढाई २॥ घण्टे प्रति दिवस तीन बार तीनों सन्ध्याओं को मध्य में करके तथा मन बचन काय के समस्त विकल्पों व क्रियाओं को रोक कर एकाग्र चित्त होकर अपने शुद्ध बुद्ध आत्मा के चिंतवन में लगाते हैं। जब चित्त अस्थिर होता देखते हैं, तब अर्हंत सिद्धादि परमेष्ठियों की स्तुति स्तवन करते हैं अर्थात उनके गुणों का चिन्तवन, कीर्तन तथा प्रशंसा करते हैं और फिर शरीर से भी नमस्करादि बन्दना करते हैं। निरन्तर स्वाध्याय स्वात्म चिंतवन अथवा आगम-अध्यात्म ग्रन्थों का पठन पाठन करते हैं और आहार विहारादि में अज्ञान व प्रमाद से यदि कोई दोष लग गया हो, तो उसे आलोचना, प्रतिक्रमण (स्वदोष निंदन गर्हण के द्वारा अथवा प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध करते हैं अर्थात् उस दोष से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं और यथावसर शरीर से भी मोह छोड़ कर आतापनादि योग धारण अर्थात् कायोत्सर्ग करते हैं। ये छः आवश्यक नित्य करते हैं, जो जीवन पर्यन्त न स्नान करते हैं, न दांतोन करते हैं, न, लङ्गोटी मात्र तो क्या, किन्तु एक तागा भी वस्त्र के नाम का शरीर पर कभी धारण करते हैं। जो

तीसरे पहर रात्रि को केवल खेद व प्रमादादि दूर करने के लिए ही भूमि पर शरीर को संवरण करके एक करवट से अल्प समय (प्रमाद दूर होने मात्र) शयन करते हैं, शेष समय बैठे हुए या खड़े खड़े ध्यान अध्ययनादि करते हैं और रात्रि में व अन्धेरे प्रदेशों में कभी गमनागमन नहीं करते। यदि चलना होता है, तो दो घड़ी सूर्य चढ़ने के समय से दो घड़ी अस्त होने से पहिले पहिले सन्ध्या समय को छोड़ कर ही मौन से गमन करते हैं। शेष समय में स्थिर रहते हैं और दैव (कर्मोदय) कृत या देव मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्गादि चेतन या अचेतन पदार्थों द्वारा प्राप्त हुए उपसर्ग [उपद्रव] तथा परीषहों [भूख प्यास शीत, उष्णादि कष्टों] को सम भावों से सहते हैं, उन पर विजय प्राप्त करते हैं, परन्तु कष्ट के भय से कायर होकर स्थान नहीं छोड़ते हैं, किन्तु सच्चे अहिंसक वीर बनकर स्थिर हो जाते हैं। जो दिवस में सन्ध्या काल को छोड़ कर दोपहर [मध्यान्ह] से पहिले या पीछे केवल १ बार ही भोजन के लिए निकलते हैं और ऊपर एषणा समिति में बताई हुई विधि के अनुसार यदि भोजन की विधि मिल गई तो ले लेते हैं, अन्यथा समभाव धारण करके पीछे सङ्घ में या एकान्त वनादि निर्जन स्थान में जाकर स्वाध्यायादि में संलग्न हो जाते हैं। जो विधि मिल जाने पर भोजन लेते हैं, सो भी खड़े खड़े अपने हाथ में गृहस्थों के द्वारा दिया हुआ बिना आंख मुख हस्तादि के इशारे के, मौन सहित रूखा सूखा, सरस नीरस, कैसा ही हो, परन्तु शुद्ध हो, प्रासुक हो और त्यागा हुआ न हो, ऐसा भोजन अल्प मात्रा में अर्थात् जितने से शरीर में ध्यान अध्ययन तथा आवश्यक पालन तप आदि साधन करने योग्य शक्ति तो रहे, परन्तु प्रमादादि दोष न

आने पावें, उतना लेते हैं और अपने सिर तथा दाढ़ी मूंछ के बाल कम से कम दो मास में व अधिक से अधिक ४ मास में अपने ही हाथों से बिना किसी मनुष्य या उस्तरा कैंची आदि शस्त्र या कोई भस्म-चूर्ण आदि पदार्थों की सहायता के, अपने आपही-किसी को प्रगट किए बिना ही एकान्त वन उपवन आदि निर्जन स्थान में बैठ कर घास फूँस की तरह उखाड़ कर फेंक देते हैं अर्थात् केशलौंच करते हैं, इसलिये कि यदि बाल बहुत बढ़ जाँय तो पसीने तथा धूल आदि के सम्बन्ध से उन में जीव उत्पन्न हो जाँय और उन की हिंसा की सम्भावना हो जाय और यदि किसी नाई आदि से हजामत करावें तो पराधीन होकर दीनता दिखाना पड़े या किसी के पास याचना करना पड़े या उस्तरादि उपकरणों का संग्रह करना पड़े, उनकी रक्षादि की चिन्ता करना पड़े इत्यादि दोष उत्पन्न हो जावें। इसलिए अपनी अयाचीक वृत्ति स्थिर रखने के लिए कष्टसहिष्णु बनने के लिए जीवों की रक्षा के लिए, शरीर से ममत्व हटाने के लिए, मूल गुण पालन के लिए, एकान्त में अपने हाथ से केशोत्पाटन करना ही योग्य है। इस प्रकार वे साधु २८ मूल गुणों तथा ८४ लक्ष उत्तर गुणों का यथा योग्य पालन करते हैं और जो निरन्तर आत्मज्ञान ध्यान व तप में संलग्न रहते हैं, ऐसे साधु तपस्वी ही प्रशंसनीय हमारे गुरू होते हैं।

तात्पर्य—जो शरीर से भी निर्ममत्व नग्न [अन्तर बाहिर परिग्रह रहित] केवल संयम [प्राणि रक्षा] पालने के लिए पीछी, शुद्धि के लिए कमण्डलु और ज्ञानाभ्यास के लिए आवश्यक आगम-अध्यात्म ग्रन्थ के सिवाय अन्य वस्तुएँ कुछ भी नहीं रखते, वनादि में ठहरते, अन्य सहधर्मी साधुओं के सङ्ग

में या योग्यता प्राप्त होने पर आचार्य की आज्ञा से एकाकी भी विचरते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाएँ जिन के पास नहीं आतीं, जो राग द्वेष से रहित हैं, किसी से जान पहिचान नहीं रखते, शरीर भोग व जग से विरक्त, अयाचक वृत्ति वाले आत्मज्ञानी ही जैन साधु गुरू हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त—

जो केवल भेषी हैं, चाहे वे नग्न हों या वस्त्रादि धारी हों, कभी साधु व गुरू नहीं हो सकते। आज कल अनेकों स्वपर-वञ्चक लोग नाना प्रकार के भेष बना कर व आप को साधु बता कर संसार को तो ठगते ही हैं, परन्तु वे अपने आत्मा को भी अनन्त भवसागर में डुबा देते हैं। कोई नग्न मुद्रा धारण कर पीछी कमण्डलु लेकर अपने को दिगम्बर साधु मानते हैं, परन्तु साथ में नौकर, चाकर, चपरासी रखते हैं, लोगों से चन्दा कराते हैं, अपने नाम की संस्थाएँ खोलते हैं, अपने साथ बहुत से गृहस्थों को लिए हुए डोलते हैं, साथ में गाड़ियों में चौके रखते हैं और जहाँ तहाँ ठहर कर भोजन बनवा कर जीमते हैं, रेलों व मोटरों में भी चलते हैं, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र करते हैं, क्रोध करके गाली गलौज करते हैं, नमस्कारादि न करने पर रुष्ट हो जाते हैं, घास के भीतर घुस कर मकानों के अन्दर सोते हैं, चटाइयां रखते हैं, दौरे छपाते हैं, अपना प्रोग्राम निश्चित करके पहिले से प्रगट कर देते हैं, लोगों के आमन्त्रण पर नियत तिथि पर पहुँचते हैं, पात्रापात्र देखे बिना चाहे जिसे मुनि अर्जिका-ऐलिक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, त्यागी आदि बना डालते हैं। जो फिर भृष्ट होकर सन्मार्ग में दोष लगाते व भृष्ट होजाते हैं। जिन्हें वर्ण-माला का शुद्ध उच्चारण करना भी नहीं आता, वे भी मुनि बन जाते हैं, केशलौंच का मेला भरवाते हैं, केशलौंच तथा पीछी

कमंडलु शास्त्रादि उपकरणों की बोली (नीलाम) बुलवाकर धन संग्रह करते हैं, निरन्तर गृही नर नारियों के सहवास में—बस्तियों में रहते हैं, लोगों के जय पराजय पर हर्ष विषाद करते हैं, शिथिलाचार का पोषण करते हैं, अमुक २ पक्षों का समर्थन और अमुक २ का विरोध किया करते हैं, गृहस्थों की सभाओं व जुलूसों में आते हैं घंटों जन समुदाय के बीच में बैठकर अपनी पूजा स्तुति कराते हैं, लोगों को बलात् (जबरन) प्रतिज्ञाएं कराते हैं जो वे शर्मा-शर्मी लेकर भंग करदेते हैं, किसी की चूड़ियां फुड़वाते, किसी की नथनी उतरवाते, किसी का पर्दा छुड़वाते, किसी का मन्दिर बन्द करवाते, किसी का जाति वहिष्कार कराते, आगम विरुद्ध भक्तों व भक्ति के वश होकर एक स्थान में बहुत समय तक रहते, उपसर्ग व परिषहों से कायर होकर पुलिस व कोर्ट में इजहार देते—इत्यादि क्रिया करने वाले, सच्चे जैन साधु नहीं हैं।

इनके सिवाय, कोई भस्म लपेटने वाले, नख-केश बढ़ाने वाले, धूनी तापने वाले, मृगचर्म बाघम्बरादि रखने वाले, लोभी कषाय व भँगवा वस्त्र रखने वाले, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, टोना करने वाले, जोगी जांगड़ा, कनफटा, मुड़चिरा, तेलिया, भबूतिया, आदि नाना प्रकार के मिथ्या भेष रचने वाले भी साधु गुरु नहीं हो सक्ते, क्योंकि ये बेचारे भूखे टूटे भिक्षुक, जो घर २ पैसे व भोजन के लिए स्वांग बनाकर दाताओं की स्तुति व निंदा करते फिरते हैं, इन के वैराग्य कहां ? ज्ञान ध्यान तप कहाँ ? ये तो कषायों की ज्वाला में जल रहे हैं, किसी को शाप देते हैं, किसी को आशीर्वाद कहते हैं, सो बेचारे आप ही जब विषय कषयों के वश हुए दीन हो रहे हैं तब औरों का क्या भला करेंगे ?

जोगी जांगड़ों वा मंत्रादि करने वाले, धन व संतान देने वालों पर विश्वास मत करो, ये भी मरते हैं औरों को क्या बचायेंगे? ये माँगते फिरते हैं, औरों को क्या देंयगे? ये रोगी रहते हैं, औरों को क्या निरोग करेंगे? ये अपना ही भविष्य नहीं जानते औरों को क्या बतायेंगे?

इसके सिवाय गुरु इन बातों के लिए होता ही नहीं, वह तो केवल संसार के मोहांधकार में पड़े हुए प्राणियों को स्वयं आदर्श बनकर अर्थात् मोह से निकल कर और को भी निकालने का सत्योपदेश देता है उनको आत्मश्रद्ध कराता है, ज्ञान-ध्यान तप-व्रत संयम के मार्ग में लगाता है, परंतु बदले में कुछ भी नहीं चाहता, जिसके निरंतर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाएं उदित रहती हैं, वही गुरू है साधु है, वह न चमत्कार करता है, न उसमें फंसता है, न फंसाता है, न अनुमोदनाही करता है, उसके सन्मुख, तीनलोक का राज्य भी तृणवत तुच्छ है, हेय है।

इसलिये. यंत्र मंत्र, दवा, धन, पुत्रादि की आशा से या लौकिक, चमत्कार आदि के कारण कभी भी किसी को साधु न मानना चाहिए, किन्तु इन धूर्तों से बचते रहना चाहिए।

इस प्रकार सुगुरु; कुगुरु का स्वरूप बताकर कुगुरु से बचने का उपदेश किया; अब कुदेव और सुदेव का स्वरूप बताते हैं।

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ (र.क.श्रा.)

श्रीसमंतभद्राचार्य कहते हैं, कि जो दोषों से रहित (वीतराग) सर्वज्ञ और आगम का ईश (हितोपदेशी) हो वही देव हो सकता है अन्यथा देवपना नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जो समस्त दोषों से रहित होगा, वही निर्भय होकर यथार्थ उपदेश कर सकेगा और उसी का प्रभाव पड़ सकेगा, क्यों कि जो स्वयं १ रागी २ द्वेषी, ३ भूखा ४ प्यासा, ५ रोग से पीड़ित, ६ जन्म ७ मरण करने वाला, ८ बुढ़ापे से जर्जरित, ९ शोक से संतप्त, १० भय से कंपित कायर, ११ विस्मय सहित अज्ञानी, १२ निद्रालु प्रमादी, १३ श्रमजल (पसीना) से थका हुआ, १४ खेदित चित्त, १५ मदधारी-अहंकारी, १६ अरति अनिष्ट बुद्धि रखने वाला, १७ चिंतातुर, १८ रति विषयानुरागी इत्यादि। दोषों सहित होगा (जो दोष सर्व साधारण संसारी प्राणियों में पाए जाते हैं) वह बेचारा आप ही इन से दुखी होरहा है और अपने आप को इन से रहित नहीं कर सका है, सो दूसरों को कैसे उन दुखों (दोषों) से छुड़ा सकेगा? और उसका उपदेश भी कौन मानेगा? उल्टी लोग उसकी हंसी उड़ायंगे, कहेंगे, कि यदि तेरे बताए मार्ग से हम सुखी हो सकते हैं, तो तू ने ही वह उपाय क्यों नहीं किया; जिससे तू सुखी हो जाता और तब हम भी तेरे मार्ग का अनुशरण करके तेरे समान होने का उपाय करते, परन्तु जब तू स्वयं दुखी होरहा है सदोष है, तो तेरा बताया हुआ मार्ग कैसे निर्दोष व सुख कर हो सकता है, भाई तेरी तो ऐसी दशा है "आप खाय काकड़ी औरों को देवे आखड़ी" इसलिये पहिले तूही शुद्ध होले, तब हमको मार्ग बताना इत्यादि।

इसी प्रकार जो सर्वज्ञ अर्थात अलोक सहित तीनों लोक के समस्त पदार्थों को उनकी भूतकाल (जो अनादिकाल बीत

गया) वर्तमान (जो समय सन्मुख है) और भविष्यत्काल (जो आगामी अनंत काल आवेगा) की समस्त हुईं, होरही व होने वाली अवस्थाओं को निर्भ्रान्त रूप से जानता है, वही सच्चा वस्तुओं का स्वरूप बता सकेगा, वही हितोपदेशी हो सकेगा, उसके सिवाय अन्य अल्पज्ञानी हितोपदेशी नहीं हो सकते, क्यों कि जो स्वयं अज्ञानी है वह बिना जाने क्या उपदेश करेगा ? वह तो पागल के समान कभी कुछ कभी कुछ बकेगा, उसका कथन पूर्वाऽपर विरोध सहित, बाद प्रतिवाद में नहीं ठहर सकने वाला, मिथ्यात्व का पोषक, संसार दुख की परम्परा बढ़ाने वाला ही होगा, वास्तव में यदि मार्ग दर्शक ही जब अंधा होगा, तो उसका साथ करने वाले क्यों नहीं मार्ग भूलकर कंटकाकीर्ण स्थल को प्राप्त होंगे, इसलिये जैसे रागी द्वेषी, रागद्वेषादि के वश हुआ सत्योपदेश नहीं देसकता, वह भक्तों पर अनुग्रह व अभक्तों का निग्रह चाहता है जिससे प्रसन्न होगा, उसे सीधा मार्ग बता देगा और अप्रसन्न होगा, तो कुमार्ग बतादेगा। वह सर्वहितकारी नहीं है, वैसे अल्पज्ञानी स्वयं अंध समान है। इसलिये, जो सर्व दोषों से रहित और पूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) होगा वही हितोपदेशी होता है, अन्य नहीं।

इसलिये उक्त तीन विशेषण (सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशकर्ता सहित जो देव है वही हमारा पूज्य व आराध्यदेव हो सकता है, और वह जिन अर्थात अर्हंत सिद्ध ही हो सकते हैं, अन्य नहीं। हां ! यदि इन विशेषणों सहित देव को कोई ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव, बुद्ध, खुदा, गोड, अल्ला, ब्रह्म आदि किसी नाम से स्मरण करें, उसमें कोई विवाद नहीं है, स्वरूप यदि अन्यथा हो तो विवाद है, इसलिये सच्चे स्वरूप को दृष्टि

में रखकर ही अपना आराध्य देव निश्चित करना चाहिए, उसे ही आदर्श बनाना चाहिये, केवल नाममात्र सुन कर मोहित होजाना या ठगाना नहीं चाहिए।

क्यों कि पूजा आदर्श की कीजाती है, हमको जिस गुण की प्राप्ति करना है, उसी गुण वाले की सेवा करना चाहिए, तभी सफल मनोरथ हो सकते हैं, इसलिये यहां हमको यह विचारना होगा, कि हमको क्या चाहिए? तो सहज उत्तर यही है कि "सुख की प्राप्ति और दुखों का नाश" जैसा पहिले बता आए हैं, वह सुख निराकुल दशा में होता है, निराकुलता कर्मों के छूटने पर होती है, कर्मों का अभाव इन्द्रियविषय और कपाय क्रोध मान माया लोभ व मोहादि के अभाव में होता है। अतएव कर्मों से छूट कर निराकुल स्वरूप अक्षय सुख प्राप्त करना ही हमारा अभीष्ट लक्ष्य है। तब हमको ऐसेही देव की सेवा करना चाहिए जो स्वयम् आदर्श बनकर मोक्ष (सच्चे सुख) को प्राप्त हो चुका हो।

अर्थात् जो मोक्ष मार्ग का आदर्श हो, तब खूब विचार करके परीक्षा करने पर यही प्रतीत होता है, कि कर्म बन्ध के कारण जो राग द्वेषादि दोष थे, उनका जिसने नाश कर दिया है, जिससे उसे पूर्णज्ञान हो गया है और उससे उसने सत्यार्थ तत्व संसारीप्राणियों को बता दिए हैं, वही जिन अर्हत सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हमारा देव आराध्य तथा पूज्य हो सकता है, अन्य नहीं, क्योंकि जो दोष हम में हैं, वे ही हमारे आदर्श आराध्य में हैं तब उसको मानने पूजने से हमारे वे दोष और भी

अधिक दृढ़ होंगे, बढ़ेंगे न कि घटेंगे। जैसे गुरुचि स्वयं कड़वी होता है और तिस पर भी उसकी बेलि नीम के वृक्ष पर चढ़ा दी जाय, तो फिर उसका कड़ुवापन और भी बढ़ेगा न कि घटेगा, ऐसे ही संसार के सभी प्राणी जड़ (अचेतन) शरीर में स्वात्म बुद्धि करके शरीर से सम्बन्धित इन्द्रियों के विषयों में आप ही निमग्न हो रहे हैं, वे अपने अनुकूल इष्ट पदार्थों में राग और प्रतिकूल अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करते हैं, इष्ट के वियोग में खेद व शोक करते हैं और अनिष्ट के संयोग में ग्लानि करते हैं, प्राप्त इष्ट विषयों का कहीं वियोग अथवा अनिष्ट विषयों का संयोग न होजाय, इसके लिए भयभीत व शंकित चित्त रहते हैं। कभी स्त्री संयोग, कभी पुरुष संयोग और कभी उभय-संयोग की इच्छा से निरन्तर व्याकुल रहते हैं, किसी को अपने प्रतिकूल जानकर क्रोध करते हैं, कभी अपना बड़प्पन प्रगट करने के लिए मान करते हैं, कभी प्रयोजन साधने के लिए छल कपट करते हैं, कभी अनुकूल इष्ट कल्पित पदार्थों के संग्रह करने की तृष्णा में जला करते हैं, कभी स्वमन रञ्जनार्थ दूसरों की हँसी उड़ाते हैं, निन्दा करते हैं, कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी खाते हैं, पीते हैं, कभी सुन्दर रूप देखने में लालायित रहते हैं, कभी सुन्दर मधुर आलाप सुनने में मग्न रहते हैं, कभी इत्र फुलेल शरीर में चुपड़ते हैं और गन्ध में आ-शक्त हो जाते हैं, कभी नाना प्रकार के स्वाद लेने की उत्कण्ठा करते हैं इत्यादि। अवस्थाएँ जबकि इन संसारी प्राणियों की होती रहती हैं, जो बेचारे आप ही उक्त रोगों से दुखी हैं और तिस पर उनको उन से अधिक विषयी व कषायी देव, गुरु तथा धर्म का सहारा मिल जाय, तो फिर कहना ही क्या है? उनकी

ऐसी दशा हुई, जैसे कोई स्त्री अपने धर्म (ब्रह्मचर्य) की रक्षा के लिए गृह त्याग कर बन में किसी साधु के आश्रम में गई और निवेदन किया, प्रभो ! मेरा पति परलोक सिधार गया, मेरे सम्बन्धी मुझ पर कुत्सित दबाव डालते हैं, इसलिए राजा के निकट पुकार की तो राजा भी इस हाड़ मांस के पिण्ड पर आशक्त होगया, तब लाचार होकर वहां से किसी तरह निकल भागी, तो मार्ग में १ वेश्या ने आश्रय दिया, परन्तु मेरे द्वारा वही वेश्या वृत्ति कराना चाही। मैं इस पर राजी न हुई, इसलिए आप को अनन्य शरण जान कर सेवा में आई हूँ। आशा है, कि अब मेरे शील की रक्षा अवश्य हो जावेगी, यह सुनकर और उस अबला को असहाय जान कर साधुजी ही स्वयं उस पर बलात्कार करने पर उतारू होगए, तब कहिए अब कौन उस की रक्षा कर सकता है ? कहा है—

"बाढ़ खेत खाने लगै, पञ्च करें अन्याय ।
घूंसखोर राजा भये, न्याय कौन पै जाय ॥"

तात्पर्य—संसारी दुःखों से सन्तप्त प्राणी, दुखों से छूटने के लिए ही किसी देव धर्म व गुरू की शरण ग्रहण करते हैं, परन्तु वे जब स्वयं उन्हीं दुःखों से (जिन से संसारी प्राणी दुखी हैं) दुखी हैं तो वे अपने आश्रित आए हुए दीनहीन जनों की कैसे रक्षा कर सकते हैं ? नहीं कर सकते।

इसलिए ऐसे देव की शरण लेना चाहिए, जो सर्वथा निर्दोष हो, जो पूर्ण ज्ञानी हो और सत्हित उपदेश करने वाला आनन्द स्वरूप हो, उसी का आदर्श व उपदेश लेकर अपना

कल्याण करना चाहिए, वह एक अर्हंत सर्वज्ञ वीतराग जिनदेव ही है, अन्य नहीं।

देखो ब्रह्मा को कोई कोई लोग देव मानते हैं, परन्तु वह बेचारा स्वयं एक तिलोत्तमा नाम की वेश्या के वश होकर अपनी ४००० वर्ष की तपस्या भङ्ग कर बैठा अर्थात् ब्रह्मा की तपस्या देख कर देवलोक का इन्द्र भयभीत होगया कि कहीं यह तप के बल से मेरा राज्य न लेलेवे, इसलिए उसे तप से भ्रष्ट करने की इच्छा से उसने सब देवताओं के शरीर में से तिल तिल भर मांस लेकर एक सुन्दर अप्सरा बनाई और जहाँ ब्रह्मा तप कर रहे थे, भेजी। वह वहाँ जाकर उनके सन्मुख हावभाव पूर्वक नृत्य करने लगी, जब ब्रह्मा ध्यान छोड़ कर उसे देखने लगे तो वह पीछे जाकर नाचने लगी, यहाँ ब्रह्माजी को उस में आशक्ति उत्पन्न होगई, इसलिए विचारने लगे, कि यदि आसन या मुँह फेर कर देखूंगा, तो लोग मुझे ध्यान से चलित समझ लेंगे, इसलिए अपने १००० वर्ष के तप के बदले पीछे को ओर मुँह बना लेना चाहिए। इससे लोक में तप की महिमा भी बढ़ेगी और अपनी प्रेयसी का नृत्य भी देख लूंगा, बस बोले यदि मेरा तप सत्य है, तो १००० वर्ष के तप के बदले मेरा १ मुँह पीछे हो जाय। तब एक मुँह पीछे होगया, परन्तु अप्सरा यहाँ से हट कर दाहिनी ओर नाचने लगी, तब १००० वर्षके तपके बदले तीसरा मुंह बनाया, इसपर अप्सरा बाईं ओर जाकर नाचने लगी, तो पुनः १००० वर्ष के तप के बदले बाईं ओर मुंह बना लिया, तब अप्सरा मस्तक के ऊपर नाचने लगी, इसलिए १००० वर्ष का शेष तप खोकर एक गर्दभाकार मुख ऊपर बना कर देखने लगे। इस तरह इनके समस्त तप को खोया जान कर

अप्सरा अपने स्थान पर चली गई इत्यादि। कथा उन ही के पुराण में लिखी है, तब विचारना चाहिए; कि जो ब्रह्मा एक अप्सरा के हेतु ४००० वर्ष का तप खो देता है, तो उसके सेवक क्या नहीं करेंगे ? क्या वे अपना ब्रह्मचर्य ब्रह्मा का आदर्श सन्मुख रख कर अखण्डरीत्या पाल सकेंगे।

ऐसे ही विष्णु की दशा है, वे भी काम के वशीभूत हुए गोपिकाओं में रमते फिरे, कभी रन में जा जाकर जूझते रहे और महेश शङ्कर ने तो पार्वती को आधे अङ्ग में ही धारण कर लिया है, इतना ही नहीं, उनने अपना स्वरूप ही विलक्षण बना रक्खा है, बैल पर सवारी की है, मस्तक पर सर्प लपेट रक्खा-है, गले में मुण्ड माल है, शरीर पर भस्म लग रही है, जिन के कामांग ही संसार में पूजे जा रहे हैं इत्यादि जिनके चरित्र हैं; जो स्वयं काम व क्रोध के वश हो रहे हैं, उनका आदर्श लेकर कौन है, जो काम क्रोध रूपी सर्पों से नहीं डसा जायगा ? इसी बात को स्व०. पण्डित भागचन्द्रजी ने पद्य में कैसा अच्छा कहा है। यथा—

❀ पद ❀

बुध जन पक्षपात तज देखो सांचा देव कौन है इन में ।टेक।

ब्रह्मा दण्ड कमण्डलु धारी,
स्त्रात भ्रांति वश सुर नारिन में।
मृग छाला माला मूंजी पुनि,
विषयाशक्त निवास नलिन में ॥१॥

विष्णु चक्र धर मदन बाण वश,
लज्जा तज रमता गोपिन में।
क्रोधानल जाज्वल्यमान पुनि,
जाकर होत प्रचण्ड अग्नि में ॥२॥
शंभू खट्वा अङ्ग सहित पुनि,
गिरिजा भोग मगन निशि दिन में।
हस्त कपाल व्याल भूषण पुनि,
मुण्ड माल तन भस्म मलिन में ॥३॥
श्री अर्हन्त परम वैरागी,
दोष न लेश प्रवेश न इन में।
भागचन्द्र इनका स्वरूप लख,
अब कहो पूज्यपना है किन में ॥४॥

इसी प्रकार गणेशजी की कथा भी विचित्र है अर्थात् पार्वतीजी ने शंकरजी की गैर हाजिरी में अपने शरीर के मैल से एक मनुष्याकार का पुतला बनाकर उसे सजीव कर दिया और अपना पुत्र मान कर द्वारपाल के स्थान पर बैठा दिया, जब शंकरजी बाहर से आए तो अपने घर पर, पर पुरुष को बैठा देखकर क्रोधित होगए और उसका मस्तक काट कर फेंक दिया, यह बात पार्वती को मालूम हुई, तो वे रुदन करने लगीं, तब शंकरजी चिन्ता में पड़े और कटा हुआ मस्तक ढूंढने निकले सो तीन लोक में कहीं न पाया, तब एक हाथी के बच्चे का सिर काट कर गणेश (पार्वती द्वारा मैल से उत्पन्न बालक) के लगा

दिया। इस प्रकार गणेशजी का सब आकार मनुष्य जैसा रहते हुए मुख हाथी जैसा होगया इत्यादि। इस कथा में कितनी सचाई व सम्भवपना है, सो विचारणीय है। मैल से मनुष्य उत्पन्न हो जाना, पिता को पुत्र होने का, त्रिकालज्ञ होने पर भी पता न होना, कोप से मस्तक काट कर फेंक देना और ढूंढने पर भी नहीं पाना, फिर हाथी का मस्तक मनुष्य के लगा देना इत्यादि। बातें प्रमाण बाधित हैं, असम्भव हैं।

हनूमानजी को पवन से उत्पन्न हुआ बताकर उनको आकार बन्दर जैसा बना कर पूजते हैं, काली या कालिका आदि कितनी ही देवियों की कल्पना करके भयङ्कर मूर्तियाँ बना रक्खी हैं, अनेकों मूर्तियाँ तो ऐसी ही हैं, जिन के आकार का व आंगोपाङ्गों का ठिकाना ही नहीं है, ज्यों त्यों उनकी स्थापना कर रक्खी है, कहीं भी एक चौंतरा या मढ़िया बना दी, उस पर कुछ पत्थर या मिट्टी का कोई भी आकार बना दिया, तेल सिन्दूर चढ़ा दिया, दीप धूप कर दिया, गूगुल लोभान जला दिया। बस, वही देवता बन गया, वहीं मान्यता होने लगी, फिर कोई नहीं पूछता यह कौन देव है? कब से स्थापित हुआ, इसका क्या चरित्र है, इत्यादि। परन्तु देखा देखी पूजने लग जाते हैं। किसी समय एक बड़े नगर में राजा की सवारी निकलने वाली थी, नगर में सफ़ाई हो रही थी, कि इतने में एक साहूकार के दरवाजे पर कोई अपवित्र दुर्गन्धित पदार्थ आपड़ा, सवारी आने को थी, उस समय वहाँ कोई सफ़ाई करने वाला न देख कर साहूकार ने एक टोकरी फूल उस पर डाल कर ढक दिया, ऐसा करते अन्य लोगों ने देख लिया, वे उसका भाव तो न समझे, परन्तु देखा देखी फूल ला लाकर उस पर डालने

लगे, इससे वहां बड़ा फूलों का ढेर होगया; इतने में राजा की सवारी भी आ पहुंची, सो राजा ने भी उसे देवता समझकर बहुत सी टोकरी फूल चढ़वा दिया, सवारी निकल जाने के बाद किसी विवेकी पुरुष ने साहूकार से पूछा, भाई यह कौन देव है, कब से स्थापित है कुछ हाल भी बताओ ! तब साहूकार बोला— प्रियवर ! यह अन्धेर देव हैं, आज अभी अवतरा है इत्यादि कह हंसते हंसते, सब कथा सुनादी, तात्पर्य ऐसे अनेकों देव कल्पित कर बन गए हैं और बनते जाते हैं और लोग भी देखा देखी बिना-जाने समझे मानने लग जाते हैं, इसे देव मूढ़ता कहते हैं। एक भेड़ कुएँ में गिर जाती है तो उस के पीछे की और भेडें भी गिरती व मरती जाती हैं। यही लोक का प्रवाह हो रहा है, किसी ने कहा है।

''गतानुगतको लोको, न लोको परमार्थकः।
वालुकापुंजमात्रेण ताम्रपात्र गतोगतः ॥

अर्थात् एक ब्राह्मण गंगा स्नान करने गया, सो अपना ताम्रपात्र कोई उठा न लेजाय, इस शंका से उसे रखकर ऊपर रेत का ढेर कर दिया और शौच स्नान करने लगा, उसे ढेर करते देखकर अन्यान्य नहाने वालों ने भी वहीं बहुत से ढेर बना दिए, जब ब्राह्मण नहा चुका, तो अपना ताम्रपात्र खोजने लगा, परन्तु वहाँ तो हजारों ढेर होचुके थे, तब बेचारा उक्त कहावत कहता हुआ कि "लोक गतानुगतिक देखा देखी करने वाले हैं, परमार्थी विवेकी नहीं हैं, देखो एक रेत के ढेर मात्र करने से ही मेरा ताम्रपात्र खोया गया" चला गया।

तात्पर्य यह है कि लोक में अविवेकी प्राणी देखादेखी धर्म व देव गुरू मानने लगते हैं, परन्तु देखा देखी धर्म नहीं होता, धर्म तो विवेक-पूर्वक ही हो सकता है? आज कल भारत में ऐसे अनेकों देवता प्रत्येक प्रांतों में जुदे २ नामों से बन बैठे हैं, और अन्धाधुंध उनकी मान्यता होरही है, जैसे भूत, जखैया, घटोइया, पीर, प्रेत, पैगम्बर, अलीबाबा, शीतला, शासनी, मशानी, चन्डी, मुन्डी, सती, भवानी, भैरों, यक्ष, राक्षस, मटिया, सैयद, महंई या मर्की, मालबाबा, सिद्धबाबा, यक्षिणी, काली, माता, होली, पितर, भूमिया आदि और भी कितने नाम धारी जैनेतर नर नारियों द्वारा कल्पित देवी देवता, औरों की देखा देखी, अथवा किसी प्रकार के भय, आशा, स्नेह व लोभ के वश होकर हमारे जैनी भाई विशेष करके जैन देवियां [नारी] पूजती हैं, कहीं मलीदा चढ़ाती हैं, कहीं बाटी बनाई जाती हैं, कहीं घूंघरा [उबाले हुए गेंहू] कहीं नारियल, गुड़, बतासा, रेवड़ी, पूरी अठवाई, बासी अन्न, हलुआ, वस्त्र, तेल, सिंदूर, तिलके लड्डू आदि चढ़ाते हैं। इनके सिवाय कितने भाई बहिन क्षेत्रपाल, पद्मावती, भैरोंजी, दिक्पाल, व्यंतर आदि देवों को शासन देवता मान कर पूजते हैं, भैरोंजी व क्षेत्रपाल को स्थापना, कहीं सुपारी या नारियल में कर देते हैं, फिर खूब तेल सिंदूर चढ़ाते हैं सुनहरी रुपहरी वर्क लगाते हैं, इससे असंख्यात कीट, पतंग, चिऊँटी, मक्खी आदि दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, और चौइन्द्रिय जीव, जो चलते फिरते या उड़ते हुए दुर्भाग्यवश इन पर बैठ जाते हैं, वे तो मरते ही हैं, इसके सिवाय मन्दिरों में गन्दगी भी हो जाती है, और तेल सिन्दुर चढ़ते २ ये क्षेत्रपाल इतने बढ़ जाते हैं, कि टूट २ गिरने लगते हैं, अन्तरिक्षपार्श्वनाथ सिरपुर में इनके

टूटे हुए बहुत से भाग एक कोठरी भोंयरे जैसी में पड़े हैं, सोजित्रा [गुजरात] के दो मन्दिरों में टांकी बनी हैं, सो जो तेल भैरोंजी पर चढ़ता है, वह एक छेद में होकर नीचे टंकी में चला जाता है, उस तेल का उपयोग मन्दिर में या भट्टारक जी के यहां जलाने में होता है वा गोरी [पुजारी] भी लेजाता है, कहीं २ इनकी पाषाण निर्मित मूर्तियां भी हैं, जिनमें कहीं कुत्ते पर सवारी जैसे बनारस के भदेनी के मन्दिर में है, कहीं बैल भैंसा की सवारी रक्खी हैं इनकी लोग लौकिक सिद्धि के अभिप्राय से पूजते हैं, जिनेन्द्रदेव से भी अधिक पूजते हैं, मान्यता रखते हैं, मैसूर प्रांत में तो हूमच पद्मावती करके एक प्रसिद्ध स्थान है वहां ५-६ दिग० जैन मन्दिर है उनमें बहुत मनोज्ञ प्रतिमाएँ हैं, परन्तु उनका प्रक्षाल तक नहीं होता, प्रतिमाओं पर धूल चढ़ी रहती है, मन्दिरों में पशु भी घुसे रहते हैं, वेमरम्मत हो रहे हैं, परन्तु यात्री वहीं बड़ी २ कीमती साढ़ियां १५०-२०० तक की कीमत की पद्मावती को चढ़ाते हैं घंटों भक्ति करते है, यहां १ मठाधीस भट्टारक रहते हैं, जो हाथी रखते हैं चांदी की खड़ाऊं पहिनते हैं और पद्मावती देवी की चढ़ी हुई साढ़ियों का उपभोग करते हैं।

आगन्तुक भोले जीवों को मन्त्र यन्त्रादि का लोभ देकर, शाक,भाजी,फलादि, अपने बगीचेसे खिलाकर भोजनादि कराकर हाथी पर घुमा-२ कर खुशामद करके खूब पैसा ठगते हैं, परन्तु जिन मन्दिरों की रक्षा जीर्णोद्धार व पूजा में पाई नहीं लगाते, शायद ही ये दर्शन करते हों, गुजरात प्रांत के तीर्थों व ग्रामों के मन्दिरों व उत्सवों में जब चढ़ावा बोला जाता है, तो जिनेन्द्र की

आरती से क्षेत्रपाल की पद्मावती आदि की आरती का घी बढ़ जाता है, जिनेन्द्रकी आरती में ५मिनट यदि लगें, तो क्षेत्रपालादि की आरती में १५ मिनट लगते हैं। इत्यादि देव मूढ़ता बढ़ रही है, जैनधर्म में सम्यक्त्व के अंगों में निःकांक्षित नाम का अंग बताया है, अर्थात् किसी प्रकार की लौकिक सिद्धि की इच्छा करके और को तो क्या, परन्तु जिनेन्द्रको भी न पूजना चाहिए, इच्छा रहित होकर ही धर्म साधन करना चाहिये, इच्छा अर्थात् कांक्षा करना सम्यक्त्व का मल दोष है, स्वामी समन्तभद्राचार्य महाराज ने कहा है।

"भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥ र.क.श्रा.

अर्थात् भय आशा स्नेह व लोभ आदि लौकिक प्रयोजनों को लेकर किसी भी कुदेव, कुशास्त्र, व कुगुरु को प्रणाम या विनय भी नहीं करना चाहिए। अर्हंतदेव सिवाय अन्य समस्त रागी, द्वेषी संसारी देव कुदेव हैं, राग,द्वेष व मोह (मिथ्यात्व) को पोषणे वाले, एकांत कथन करने वाले; जैनागम के सिवाय अन्य समस्त शास्त्र कुशास्त्र हैं, जैनागम से अभिप्राय कुंदकुंदाचार्य, पूज्यपादाचार्य, अकलंकाचार्य, जिनसेनाचार्य, गुणभद्राचार्य, नेमिचन्द्र सि० च० भूतवली, पुष्पवली, आदि पूज्य ऋषियों कृत ग्रन्थों से है न कि भट्टारकों द्वारा गढ़ंत त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, सूर्यप्रकाश, दानविचारादि और निर्ग्रन्थ कम से कम २८ मूल गुण धारी दिगम्बर जैन साधु, जो सर्व प्रकार से उद्दिष्ट भोजन और वस्तिका के त्यागी और निरन्तर ज्ञान ध्यान संयम तप में मग्न रहते हैं, के सिवाय अन्य भेषी जैसा पहिले

बता आये हैं सभी कुगुरु हैं, उनको कभी भी नतमस्तक न होना चाहिए, भले वे कितने ही लौकिक चमत्कारों की डींग मारें या बतावें भी सही, परन्तु नहीं ठगाना चाहिये।

अपने हृदय में श्रद्धा रखिये, यदि पुण्योदय है, तो कोई देवी, देवता, मन्त्र, तन्त्र आदि बिगाड़ नहीं कर सकता, मार नहीं सकता और यदि पापोदय है तो कोई सहायता नहीं कर सकता, बचा नहीं सकता, जैसा कि कार्तिकेय स्वामी ने अनुप्रेक्षा में कहा है—

जं जस्स जीम्हदे से जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
णादं जिणेणणियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अहव जिनिन्दो वा॥

अर्थात्—जिसका जिस प्रकार जिस क्षेत्र काल में जो कुछ होना जिनेन्द्र ने जन्म या मरण या लाभ अलाभ आदि जाना है, उसका उसी प्रकार उसी क्षेत्र काल में वैसा ही होगा, उसको इन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भी टाल नहीं सकते ? तो और कौन टाल सकता है ?

इस लिये अनुकूल और उचित उपाय औषधादि करना चाहिए, इन कल्पित देवों के चक्कर में वा मन्त्रादि के चक्कर में न पड़ना चाहिए। यद्यपि जैन आगम में चार निकायके देव, "कल्प (स्वर्ग) वासी, ज्योतिषी (सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र तारे)

व्यंतर (किन्नर किंपुरुष, महोरग, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, व्यंतर) और भवन (पाताल) वासी (असुरकुमार आदि १० प्रकार) बताये हैं। इसका अर्थ यह नहीं है, कि उनको पूजना चाहिये, किन्तु जैसे संसारी जीवों में एक गति मनुष्य है ऐसे ही एक गति देवों की है, एक तिर्यंचों की और एक नारकियों की भी है। सब की योनियां व कुल भी पृथक् हैं, इनमें नरक गति के जीवों को निरंतर दुःख ही दुःख उदय में रहता है, देवों में कितनों को अधिक और कितनों को कम सुख उदय में रहता है, शेष मनुष्यों व पशुओं को यथा योग्य सुख किंवा दुःख उदय में रहता है, यहाँ सुख दुख से प्रयोजन इन्द्रिय अन्य अपराधीन कर्मोदय से प्राप्त नाशवान सुख दुःख से है, परमार्थ तो चारों गति के जीव दुखी ही हैं, सभी को जन्म मरण, (इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग, क्षुधा तृषादि रोग लगरहे हैं, वास्तव में सच्चे सुखी तो अर्हंत तथा सिद्ध ही हैं) इस लिए ये कोई पूज्य नहीं हो सकते, पूज्यतो अर्हंत, सिद्ध परमेष्ठी ही हो सकते हैं, जो सर्व दोषों व दुखों से मुक्त हैं।

बहुत से नर नारी, गाय, हाथी, घोड़ा, नाग आदि पशुओ को पूजते हैं, सो पूजा तो उसकी की जाती है, जिसके समान हम होना चाहते हैं, मानों कोई धनवाले की सेवा करता है, तो उसका प्रयोजन धन प्राप्त करना है। इत्यादि इसी प्रकार जो हाथी, घोड़ा, गाय, सर्प आदि पशुओं व गरुड़ आदि को पूजते हैं, वे स्वयं हाथी, घोड़ा आदि पशु होना चाहते हैं, परन्तु मनुष्य जन्म तो चारों गतियों में श्रेष्ठ है, क्योंकि जप, तप, संयम शील, व्रतादि मनुष्य ही धारण करके कर्मों का नाश कर सकता-

है और सच्चा स्वाधीन अतन्द्रिय अविनाशी सुख प्राप्त करसकता।
अतएव इनकी पूजा करना अनिष्ट व दुखदाई है, अनर्थ है।

कितने भोले प्राणी, मिट्टी, पृथ्वी, पीपल, बड़, आदि वृक्षों को तथा गंगा, गोदावरी, जमुना, नर्वदा, ताप्ती, बानगंगा, ब्रह्मपुत्र, सिन्धु आदि नदियों समुद्रों को वा हिमालय, विन्ध्याचल, सतपुड़ा आदि पहाड़ों को भी पूजते हैं, कोई अग्नि को पूजते हैं, तुलसी को पूजते हैं इत्यादि। सो ये यदि सजीव हैं तो एकेन्द्रिये हुए जो बेचारे स्वयं आंधी, पानी, अग्नि आदि से या मनुष्य पशु आदि से अपनी ही रक्षा नहीं करते, उनको खोदा जाता है, काटा जाता है, खाया जाता है, जलाया जाता है, बुझाया जाता है, पकाया जाता है, फोड़ा जाता है, पटका जाता है इत्यादि। दुख रूप अवस्था जिन एकेन्द्री पृथ्वी, पर्वतादि, अग्नि आदि व बनस्पति पवनादि जीवों की होती है; उनके पूजने से पूजकों को कैसे सुख हो सकता है। हां! ऐसी मूढ़ता से ज्ञान हीन होकर उन्हीं के जैसे जन्मान्तर होने का अवसर आ सकता है।

इसके सिवाय कितने, गोबर; कुम्हार का चाक, अवा, मिट्टी के घड़े, दीपक, देहली; मापने का गज, सेर, पायली, तराजू-कांटा, रुपया, मुहर, चक्की, चूल्हा, ऊखल-मूसल, लकड़ी खम्भ; मांडवा (मण्डप) वेदी, कूँआ, खानि (खदान) अनाज दूध, दही, दवात क़लम, पोथी आदि जड़ वस्तुओं को पूजते हैं और मनाते हैं; इनके पूजने मनाने से हमारे ऋद्धि सिद्धि हो जावेगी, सो ये भी देव मूढ़ता है, ये जड़ वस्तुएँ हैं, इनमें न ज्ञान दर्शन (चेतना) है और न सुख दुःख का वेदन व देने लेने की

शक्ति है, ये तो अन्य प्राणियों द्वारा उपयोग में आने वाले पदार्थ हैं; इन वस्तुओं का सदुपयोग करना चाहिये। बस! यही पूजा है जैसे गोबर किसी मलमूत्र आदि अशुचिस्थान को लीपने के काम में लेने से वहाँ की दुर्गन्ध हट जाती है; खुदी हुई मिट्टी की जमीन गोबर या लीद मिट्टी के साथ मिलाकर लीपने से जमीन में धूल नहीं उड़ती, कपड़े खराब नहीं होते इत्यादि। उपयोग करने के बदले कोई उसे पूजने लगे, देवता मान लेवे. या पवित्र मानकर खावे, वा देव को चढ़ावे, तो वह मूर्ख ही कहावेगा, पापी ही रहेगा, इसी प्रकार गज, बांट, तराजू आदि का उपयोग वस्तुओं की माप तोल करने में होता है, उनसे सोना, चांदी आदि माप तोल कर लेते हैं, तात्पर्य यह कि न हम ठगाये जांय और न दूसरों को ठगें, ठीक दाम पर बराबर वस्तुएं लेवें देवें, सो कोई उन गज, तराजू, बांट आदि की पूजा करता रहे और लैन दैन धंधा न करें, तो कभी धन लाभ न होगा; ऐसा करने वाला मूर्ख ही कहावेगा. अथवा कोई पोथी पुस्तकों की पूजा तो करे, परन्तु पढ़े नहीं, तो वह मूर्ख ही रहेगा, मात्र पुस्तक पूजने से ज्ञान तो न आवेगा। पुस्तक ज्ञान के साधनों में से एक साधन है, सो उसको यत्न से रखना, ताकि वह फट न जाय, मैली न हो जाय, या कोई चुरा न ले, तथा उस पुस्तक को पढ़ना, यही पूजा है। तब कोई कहेगा कि शास्त्रों की पूजा नमस्कार क्यों की जाती है, तो उत्तर यह है कि उनमें सत्पुरुषों उपदेशों का वचनों का लिपिरूप से संग्रह है सो उन सच्चेमोक्ष-मार्ग के उपदेशों को सत्पुरूषों के वचनों को ही पूजा जाता है न कि कागज कलम स्याही, या वर्णमालादि किसी प्रकार की लिपि को पूजा जाता है। रुपया, मुहर पूजने से रूपया, मुहर या दूध दही

घी, अनाज आदि पूजने से दूध, दही, घी, अनाज नहीं मिलता, किन्तु व्यवसाय और पुण्य से ही मिलता है। इस लिये इन या ऐसे अन्य निर्जीव वस्तुओं की पूजा मान्यता नहीं करना चाहिए जैसा कि कहा है—

❀ छप्पय ❀

क्षीण प्रतापी इन्द्र भास्कर आतपकारी।
तन बिन कहो अनंग इन्द्र पुनि अति· मदधारी॥
ब्रह्मा सुर तिय मगन गोपिकन में दामोदर।
अर्द्ध अङ्ग में नारि धार है रहो मगन हर॥
'दीप' जगत के देव इम विषय कषायन युत निरख।
तज, भज श्रीजिनदेव इक वीतराग सर्वज्ञ लख॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है, कि जब ऐसा है तो दिगम्बर जैन तीर्थंकारों की प्रतिमाएँ न सिद्ध क्षेत्रादि स्थानों की पूजा बन्दनाभी नहीं करना चाहिए, क्यों ये भी तो जड़ हैं। उन को ऊपर के शास्त्र विषयक उत्तर से समाधान करना चाहिए, अर्थात् जैनी लोग मूर्ति या पर्वतादि जड़ पदार्थों को कभी नहीं पूजते, जैनियों की पूजा पाठादि को उठाकर बांचिए और अर्थ पर दृष्टि डालिये, तो पता लग जायगा कि जैन मूर्ति पूजक नहीं हैं, किन्तु आदर्श के पुजारी हैं (Jains do not worship idal but ideal) अर्थात् जिस मनुष्य के शरीर से उनके आराध्य देव तीर्थंकर आत्माओं ने परमात्म (सिद्ध या मुक्त) पद पाया है, उसी प्रकार के ध्यान, आसन, युक्त मनुष्याकार की वैराग्य दर्शक मूर्ति बनाकर रखते हैं; उसके देखने से

अपने आराध्यदेव का स्मरण गुण चिंतवन, कीर्तन, मनन, स्तवन, भक्ति होने लगता है, ये वैराग्य मय दिगम्बर जैन मूर्तियां यद्यपि निर्जीव पत्थर धातु या काष्ठ की बनी हुई होती हैं और जड़ हैं, तो भी संसारी प्राणियों को शांति के निमित्त होती हैं, इनके सन्मुख जाकर नमस्कार वंदन पूजन करना या अभिषेक (प्रक्षालन) करना, वास्तव में मूर्ति का स्तवन वंदन पूजन, अभिषेक नहीं है, किन्तु उन्हीं आराध्य परमात्म पद प्राप्त परमात्माओं का ही स्तवन पूजन बंदनादि है, इस क्षेत्र काल में वे सशरीर अर्हंत परमेष्ठी तीर्थंकर प्रभु हमारे सन्मुख नहीं हैं, इस लिए हम अपने आत्म हित के लिए- अर्थात् अपने आत्मा से मोह (मिथ्यात्व) तथा रागद्वेषादि भाव घटाने के लिये उनकी प्रति मूर्ति बनाकर रखते हैं और संसारी झंझटों से अवकाश लेकर कुछ समय इन वैराग्यमयी मूर्तियों के सन्मुख जाकर पूज्याराध्य देवों का गुण स्मरण करके उनकी ही भक्ति में मग्न हो जाते हैं, पश्चात् उनके साथ अपने स्वरूप का मिलान करते हैं, तो दोनों का द्रव्य समान होते हुए भी दोनों की अवस्था में अन्तर पाते हैं, उन की अवस्था (पर्याय) तथा गुण सर्वथा शुद्ध पाते हैं और अपनी पर्याय व गुण मलिन पाते हैं, तब विचारते हैं, कि जब हमारा इनका द्रव्य समान है, शक्ति सदृश है; ये भी कभी हमारे जैसे संसारी प्राणी थे, जो कि अब शुद्ध परमात्म स्वरूप हमारे आराध्य होरहे हैं, ऐसा विचार करते हुए उनके वर्तमान परमात्म पद प्राप्त होने से पूर्व की अशुद्धावस्था का चरित्र और वे उस अवस्था में रहते हुए कैसे उससे निकल कर इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं, विचार जाते हैं।

उससे हमको तुरन्त पता लगजाता है, कि उन्होंने अशुद्धावस्था (हमारे समान) में ही उनसे पूर्व में हुए परमात्माओं के दर्शन या उनके चरित्रों को सुन कर उनके उपदेशों (तत्त्व स्वरूप) का मनन किया और परीक्षा पूर्वक उसे सत्य पाया, तब उन [जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष] तत्त्वों में से आपने आत्म तत्त्व को अन्य तत्त्वों से प्रथक् निश्चय किया, अर्थात् स्वात्म दर्शन [सम्यग्दर्शन] प्राप्त किया, पश्चात् अपने आत्मा के मलिन होकर बन्ध में पड़ने के कारणों पर खूब विचार करके उनको जान लिया, ऐसा ज्ञान होते हुए स्वयमेव यह भान होने लगा कि जो कारण आत्मा के मलिन होने अर्थात् कर्मास्रव में व बन्ध के हैं, ठीक उनसे विपरीत आत्मा को कर्मास्रव से बचाने या रक्षा करने (संवर) तथा पूर्व में बांधे हुए कर्म बन्धनों को काटने [निर्जरा] होने में कारण होते हैं।

अर्थात् जिन राग द्वेष, मोहादि भावों के निमित्त से कर्म आस्रव होता या बँधता है, उन्हीं रागद्वेष, मोहादि भावों के अभाव से कर्मों का संवर तथा निर्जरा भी होती है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर, फिर उन्होंने अपने पूर्व मोक्ष प्राप्त परमात्माओं के पूर्व चरित्र के अनुसार वाह्य चारित्र ग्रहण कर रागद्वेष व मोह के कारण समस्त वाह्य परिग्रहों (पदार्थों) का मन वचन काय, व कृत कारित अनुमोदना से सर्वथा त्याग करके अपने अन्तरङ्ग भावों पर दृष्टि डाली और जो जो पर पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न हुए विभाव भाव पाते गये, उन उनको हटाते गए, इसके लिए मोक्ष मार्गोपदेशक आगम ग्रन्थों

से तथा अपने समान अन्य मोक्ष महात्माओं से सहायता प्राप्त भी की और ऐसा अभ्यास करते २ ज्यों २ उनके आत्माओं से रागादि भाव घटते गए, त्यों २ उनके अन्तरङ्ग में एक प्रकार का दिव्य तेज व सुख शांति का भाव प्रगट होता गया और ऐसा होते हुए जब सम्पूर्ण रागादि भाव आत्मा से निकल गए, तो वह दिव्य तेज अपने पूर्ण रूप से प्रकाशित होगया, पूर्ण सुख शांति प्राप्त होगई।

अर्थात् वे महात्मा सशरीरमुक्त (जीवन्मुक्त) सर्वज्ञ-वीतराग आप्त परमात्मा होगए, पश्चात् शरीर की स्थिति तक उन्होंने अपने दिव्य [केवल] ज्ञान के द्वारा संसारी जीवों को सन्मार्ग [मोक्ष मार्ग] का उपदेश दिया और बता दिया कि ए संसारी भव्यात्माओं मैं जिस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ व जिस मार्ग से हुआ हूँ, वह यह मार्ग है। आओ! इस मार्ग में चलो तुम ही मेरे जैसे पद को प्राप्त होकर सर्व दुःखों से छूट जाओगे, मैं भी तुम्हारे समान संसारी था, सो इसी मार्ग से इस पद पर आया हूँ, तुम भी आ सकते हो, तुम में भी मेरे समान शक्ति है, उसे देखो, जानो और साहस करके बढ़े चले आओ इत्यादि। इस प्रकार अनेकों भव्य प्राणियों को कल्याण मार्ग में लगाकर आयु पूर्ण होते ही शरीर से भी मुक्त होकर केवल आप स्वरूपी अशरीरी [सिद्ध] परमात्मा होगए। इस प्रकार का विचार आते ही हमको भी संसार से वैराग्य होने लगता है और ज्यों २ हम उस प्रति मूर्ति को एकाग्रचित्त होकर देखते हैं, त्यों २ वैराग्य बढ़ने लगता है, संसार, शरीर व भोगों में अशक्ति कम होने लगती है, सच्चे साधू मोक्षमार्गी जीवों के साथ प्रेम भाव बढ़ने लगता है।

ऐसा होते जब हमारा मोह संसारी विषयवासनाओं व उनके कारणों से घटजाता है, तो हम को भी वह शुभ अवसर प्राप्त हो सकता है, कि जिससे हम भी समस्त परिग्रह को छोड़ साक्षात् मोक्षमार्ग में लग जाते हैं, साधु हो जाते हैं, साधू हो जाने पर, फिर इस प्रति मूर्ति प्रतिमा की आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि जिस मार्ग के प्रदर्शन का वह निमित्त कारण थी, अब वह मार्ग प्राप्त होगया है, उस पर चलने भी लगे हैं, परन्तु इससे पहिले गृहस्थावस्था में उसकी बहुत आवश्यकता है, क्यों कि अभी तक वे उस मार्ग के अनुसारी नहीं हुए हैं, उनके पीछे बहुत झंझटें लग रही हैं, सो यदि वे भी इनका अवलंबन निरर्थक समझ कर छोड़ बैठें, तो थोड़ा बहुत जो इन के निमित्त से कुछ २ स्वरूप चिंतवन, स्मरण, मनन होता था, व कभी २ संवेग और वैराग्य की लहर उठा करती थी, जो कि भविष्य में उसे साधु मार्ग में लाने का हेतु थी, सो तो छूट जावेगी और विषय वासनाएँ व झंझटों से छुटकारा नहीं, तब उन्हीं में और२ अधिक फंसता जायगा, दुखी होता जायगा। इसलिये ही प्रत्येक गृहस्थ नरनारी, बालक बालिका सबको, नित्य प्रति दिन में ३ बार २ बार या कम से कम १ बार तो अवश्य हीं जिन [निज] दर्शन दिगम्बर जैन मन्दिरों में जाकर उन वैराग्य मई परम शांत मुद्रा युक्त प्रतिमाओं सन्मुख विनय युक्त खड़े रह कर करना चाहिये और इस निमित्त से स्वरूप चिंतवन करके यथा संभव व्रत, नियम, संयम, धारण करना चाहिये, यह बात इन्हीं दिगंबर जैन प्रतिमाओं के दर्शन से ही हो सकती हैं, अन्यत्र कहीं भी नहीं हो सकती, क्यों कि और सभी मूर्तियां राग द्वेष के साज सहित ही मिलेंगी; और यह सिद्धान्त है, कि कारण के अनुसार कार्य उत्पन्न होता है, अर्थात

वेश्यादि की शृङ्गार सहित मूर्ति कामोत्पत्ति में जैसे निमित्त है वैसे ही तीर्थंकरों की दिगम्बर जैन वैराग्य मई मूर्ति वैराग्य उत्पादक व शान्ति प्रदायक कारण है। यदि कोई कहे कि एक बार दर्शन कर लिया, फिर नित्य प्रति व दिन में कई बार घटों तक दर्शन की क्या आवश्यकता है ? तो उत्तर यह है कि जैसे नित्य प्रति बार २ भूख लगते व प्यास लगने पर नित्य प्रति बार२ खाया पिया जाता है। रोग आने पर दवा सेवन की जाती है, वैसे ही विषय कुषायों में आशक्ति हो जाने से जिन दर्शन की आवश्यकता होती है, जैसे भोजन पान औषधि भूख, प्यास, व रोग मिटाने में निमित्त कारण है; वैसे ही विषय कषाय रूपी रोग मिटाने को, वैराग्य मय दिग० जैन प्रतिमा का दर्शन निमित्त कारण है, अवलम्बन है, बिना अवलम्बन के संसारी गृहीजनों का चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, परन्तु जैसे अभ्यास से भूख प्यास का वेग घट जाता है, तब भोजन की आवश्यक कम हो जाती है, वैसे ही अपने आत्मा में आत्मानुभव ज्यों २ बढ़ता जाता है। त्यों त्यों वाह्य अवलम्बन छूटतो जाता है। न कि छोड़ दिया जाता है।

अतएव दिगम्बर जैन शांत वैराग्यमय मूर्ति का दर्शन अवश्य करना चाहिये। यह भी ध्यान रहे कि शास्त्रज्ञान तो अवस्था पाकर ही होगा, परन्तु प्रतिमा दर्शन से तो पढ़े, बाल-वृद्ध युवा, नर नारी सभी लाभ उठा सकते हैं। अतएव बाल्यावस्था (शिशुवय) से ही जिन दर्शन का संस्कार डालना चाहिये।

यही संक्षेप में जैनियों के मूर्ति पूजा का अभिप्राय है तात्पर्य-ये जड़ प्रतिमा को नहीं, किन्तु प्रतिमा से जिन महात्माओं .... का बोध होता है, उनहीं के जैन लोग पुजारी हैं।

इनको जड़ के पुजारी मानना जड़ (मूर्ख) पना है। इस लिए जो प्रतिमा के जड़पना को लेकर जड़वाद संसार में फैलाते हैं। या अन्य जड़ वस्तुओं को पूजते हैं। वे जड़ हैं, मूर्ख-अज्ञानी हैं, उनको शीघ्र ही इस भूल को त्याग देना चाहिये।

यहाँ कोई कह सकता है ? कि जैसे जैनी मूर्ति के द्वारा आराध्य देव को पूजते हैं, वैसे ही अन्यान्य जन भी मूर्तियों के द्वारा अपने अपने आराध्य देवों की आराधना करते हैं ? तो उत्तर यह है, कि यह तो ठीक है कि वे भी ऐसा ही मान कर करते होंगे, परन्तु विचारणीय बात तो यह है, कि गोबर मिट्टी कुम्हार का चाक, बड़ पीपल, समुद्र नदी आदि कोई देव भी तो नहीं है, यदि हैं, तो इनकी कथा क्या है ये कौन देव हैं क्या शक्ति रखते हैं ? क्या कोई गोबर पुराण, बड़ पुराण, तुलसी पुराण, नदी पुराण भी हैं ? यदि हैं तो इनके पूजने का फल क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं। बहुतों की मान्यता होगी, बर के पूजने से बर (उत्तम पति) मिलता है, चाक पूजने से सदा सुहाग बना रहता है इत्यादि। सो ये सब बातें "बुढ़िया पुराण" अर्थात् कल्पित दन्त कथाएँ हैं, यदि सत्य होती, तो चाक पूजने वाली हजारों महिलाएँ क्यों विधवा हो जातीं ? हजारों बर पूजने वाली सुशील महिलाएँ क्यों विपरीत बर पातीं, क्यों उनके द्वारा सताई जातीं ? इत्यादि। रही अन्य देवों की मूर्तियों की बात, सो विचारना चाहिये, कि जो वस्तु अपने स्वरूप सहित हमारे सामने नहीं हैं, उसी वस्तु की कल्पना अन्य तद्रूप वस्तु में की जाती है सो भी किसी प्रयोजन के वश से, जैसे कहीं कोई बड़ी सभा या पंचायत है, उसमें उसके सदस्यों की उपस्थिती आवश्यक है, परंतु यदि कोई सदस्य कारण वशात् उपस्थित नहीं हो सकता, तो वह अन्य किसी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि बना देता है और प्रति-

निधि की राय ही उसकी राय मानी जाती है, परन्तु जहाँ जो स्वयं उपस्थित होता है, वहां उसके प्रतिनिधि की आवश्यकता ही क्या है ? कुछ नहीं। सो इस क्षेत्र काल में जैनियों को आराध्य देव परम वीतराग सर्वज्ञ आप्त परमेष्ठी मौजूद नहीं है, अन्य क्षेत्रोंमेंहै,इसलिये हमतदाकार मूर्तिमें उस आराध्यदेवकी स्थापना करके उसके द्वारा(निमित्त से)अपना आत्महित चिंतवन करते हैं, परन्तु जैनेतर समाजों ने प्रथम तो ईश्वर को सर्वव्यापक (हर जगह हाजिर नाजिर) माना है। अतएव जब कि वह सब जगह सदा मौजूद ही रहता है, तो फिर उसकी मूर्ति में कल्पना करके और असुक क्षेत्र मात्र व्यापी बना देना अर्थात् व्यापी से व्याप्य कर देना और अरूपी अमूर्ती मानते हुए मूर्ति बना देना, उस ईश्वर का अपमान करना ही हुआ। दूसरी बात यह है, कि जितनी भी वीतराग देव की दिग० जैन मूर्ति के सिवाय मूर्तियां संसार में देखी जाती हैं, उन में प्रायः किसी में क्रोध, किसी में मान, किसी में माया, किसी में लोभ, किसी में काम, किसी में भय, किसी में द्वेष, किसी में राग इत्यादि। बातें जो कि संसारी सभी प्राणियों में पाई जाती हैं,मिलती हैं। सम्भव है कि संसारी प्राणियों से उन में वे बातें किसी अंश से अधिक होंगी, सो हों, इससे क्या वे आदर्श होगए ? और क्या ये बातें गुण हैं ? यदि ये गुण रूप हैं, तो इनके करने वालों को राजा व पञ्चों से दण्ड क्यों मिलता है ? क्योंकि जब उनका आराध्य पूज्य आदर्श ही वैसा है तो पूजक वैसा होना ही चाहिए और यदि पूजक ने पूज्य का किसी भी अंश में अनुकरण नहीं किया, तो वह वास्तव में पूजक आराधक ही नहीं है, किन्तु स्वपरवञ्चक है। इसलिए यदि ये बातें गुण रूप अनुकरणीय है, तो इनके करने

वाले सभी पूज्य होना चाहिए और तब कुछ दोष भी संसार में नहीं रह जायेंगे, क्योंकि ये बातें तो न्यूनाधिक अंशों में पाई जाती हैं और इसलिए भी इन्हीं गुणों से विशिष्ट किन्हीं अचेतन मूर्तियों की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि सभी चेतन आत्माएँ इन गुणों से विशिष्ट नर पशु रूप में देखी जाती हैं और जिन में इन गुणों की जिन अंशों में कमी होवे, सो भी परस्पर उपदेश व आदेशों से पूरी की जा सकती हैं, जैसा कि प्रायः होता भी है।

परन्तु इन बातों की शिक्षा देने के लिए न कोई विद्यालय है और न पठन क्रम ही आज तक बना, इससे विदित होता है, कि ये बातें गुण रूप अनुकरणीय नहीं हैं, किन्तु त्याज्य हैं। इन बातों की निन्दा प्रत्येक धर्म के सभी आचार्यों ने की है और जितने २ अंश में जिन २ महात्माओं में इन बातों की कमी पाई गई है, वे वे महात्मा उतने २ अंशों में पूज्य माने गए हैं, आज केवल भारत ही नहीं, किन्तु विदेश भी महात्मा गान्धी को संसार का एक महान् अवतार मान रहे हैं, सरकार स्वयं उनका आदर करती है, सो क्यों ? इसीलिये न कि वे अहिंसा के उपासक हैं, काम क्रोध लोभ मान माया द्वेषादि कषायें उन्होंने बहुत अंशों में दमन करदी हैं, वे अपने आपको संसार के सब से तुच्छ मनुष्य अर्थात् सबका सेवक मानते हैं, शत्रु का भी भला चाहते हैं, दीन दुखी देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग कर बैठे हैं, इसीलिए वे बड़े होगए हैं, साधु महात्माओं की सच्ची पहिचान ही यही है, कि उन में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दादि में इष्टानिष्ट कल्पना नहीं रहती, मन पर उनका अंकुश

रहता है। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, ममता उन से दूर रहती है। इसके विपरीत जिन में ये बातें जितने अंशों में हों, वे उतने ही अंशों में निद्य माने जाते हैं। फिर भले ही कोई स्वार्थी अज्ञानी अपने किसी प्रयोजन के वश में उन्हें पूजे माने और उनको अपने हाथ का शस्त्र बना करके अपना स्वार्थ सिद्ध करे, परन्तु अन्तरङ्ग से तो वह भी उन्हें, वे जैसे हैं, वैसे ही मानता है और स्वार्थ सिद्ध होने पर उन्हें छोड़ भी देता है, जैसे हाल ही की बात है, अमुक जगह बहुत वर्षों से शास्त्र भण्डार बन्द था, एक उपदेशक ने उसको खुलवाने का बीड़ा उठाया, अनेक प्रयत्नों के पश्चात् उनको चाणक्य के समान एक एल्लिकजी मिलगए, वे क्रोध करने और मनमाने अपशब्द बोलने में प्रसिद्ध थे और उस समय समाज में वे अकेले होने से प्रतिष्ठा को भी प्राप्त थे, उपदेशक उनकी सेवा सुश्रूषा करके वहां लेगए, यद्यपि ये उनको एल्लिक नहीं मानते थे, इनकी उन में श्रद्धा-भक्ति नहीं थी, तो भी प्रयोजन के वश ऐसा किया और जब शास्त्र भण्डार खुलगया, उसकी सम्हाल होने का सुअवसर आगया, तो उनको अन्य क्षेत्र में जाकर छोड़ आए अर्थात् पृथक् होगए, यह मानना भक्ति नहीं, स्वार्थ सिद्धि है। भले वह शुभ भावना से थी, ऐसी ही कोई अशुभ भावना से करते हैं, कोई धन कमाने को, कोई पूजा प्रतिष्ठा पाने को, कोई माल उड़ाने को, चन्दा कराने को, जैसे हाल में मृत मुनीन्द्र सागर जैसे नग्न भेषी जनों के साथ कतिपय नामधारी पण्डित लगे रहते और अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे, परन्तु यह भक्ति नहीं कहाती, ये तो ठगपना है, तात्पर्य-ये कामादि कषायें दोष ही हैं, गुण नहीं हैं। देखो—

एक बार आगरे में कोई मुनि (दिग० भेषधारी साधु) आए, सभी उनकी बन्दना को गए वे बाग में ठहरे थे, सो स्व० पण्डित बनारसीदासजी कविवर भी गए और ओट में बैठकर उनको उँगली दिखाने लगे, दो चार बार ऐसा होने पर उनको क्रोध आया देख उक्त कविवरजी उनको नमस्कार किए बिना ही घर चले गए, वे समझ गए कि अभी साधुपना इन में नहीं है, मात्र भेष ही भेष है, ऐसे ही किसी अन्य समय एक अन्यमती साधु आया, जनता में उसकी प्रशंसा होती देख उक्त कविवर भी गए और चुपके पीछे बैठ गए, जब लोग चले गए तो नम्रता से पूछा, श्रीमान् का नाम ? साधु बोला, शीतलप्रसाद, तब पण्डितजी उठ के चलने लगे और चार कदम चलने के बाद पुनः लौटकर पूछा, श्रीमान् मैं भूल गया, आपका शुभ नाम ? पुनः कुछ तेज स्वर में उत्तर मिला "शीतलप्रसाद" इसी प्रकार २-३ बार लौट २ कर पण्डित ने पूछा, तो साधु झुंझला कर जोर से बोला 'शीतलप्रसाद' बस ! पण्डितजी समझ गए और बोले बाबा अब नहीं भूलूंगा आपका नाम ज्वालाप्रसाद है, बस ! साधु भी जान गया, कि ये तो कविवर बनारसीदास थे, सो अपना डण्डा झोला सम्हाल कर चलता बना। सारांश यह है, कि काम क्रोधादि दुर्गुण हैं और जिन में ये हैं वे दुर्गुणी हैं, इसलिए जिन में ये पाये जाँय, जिनकी मूर्तियों में ये बातें हों, वे देव व उनकी मूर्तियां कभी पूज्य नहीं हो सकतीं। कुदेव का लक्षण पण्डित प्रवर दौलतरामजी ने ऐसा ही कहा है—

"जे रागद्वेष मलकर मलीन ।
बनिता गदादि युत चिन्ह चीन ॥

ते हैं कुदेव तिन की जु सेव।

शठ करत न तिन भव भ्रमण छेव ॥"

अर्थात् जे रागद्वेष रूपी मल से मलिन हैं, जिन के साथ स्त्री आदि चेतन तथा गदादि हथियार या वस्त्राभूषण आदि अचेतन परिग्रह हैं वे कुदेव हैं। उनकी जो अज्ञानी सेवा करते हैं, उनके संसार का अन्त नहीं आता, बात सत्य है; साथ में स्त्री का होना काम विचार का हेतु है, ब्रह्मचारी क्यों स्त्री रक्खेगा? गदादि हथियार वही रक्खेगा जिसे वैरियों का भय होगा या जिसके वैरी शेष होंगे। वस्त्र वही पहिरेगा जिसके शरीर में विकार होगा, आभूषण वही पहिरेगा जो स्वयं तो सुन्दर नहीं है, परन्तु सुन्दर बनना चाहता है, परन्तु जिन में ये दोष नहीं है, वे क्यों इन दिक्कतों में फँसेंगे? इसलिए श्रीवादिराज मुनिराज ने "एकीभाव स्तोत्र" में क्या ही उत्तम कहा है। कि हे जिनेन्द्र!

'जो कुदेव छवि हीन वसन भूषण अभिलाषैं।
वैरी सों भयभीत होंय सो आयुध राखैं॥
तुम सुन्दर सर्वांग शत्रु समरथ नहिं कोई।
भूषण वसन गदादि ग्रहण काहे को होई॥"

इत्यादि इसी प्रकार किसी नग्न फकीर ने औरङ्गजेब बादशाह के द्वारा भेजे हुए वस्त्रों को यह कह कर वापिस कर दिए थे, कि "ए पातशाह जिसने तुझे शहन्शाही बक्शी है, उसी ने मुझे फकीरी बख्शी है, उसी ने जिसके जिस्म में एब देखा उसे लिबास पहिनाया और जिसका बे एब जिस्म देखा मादर-

जात रक्खा" इसलिए उसके हुक्म के खिलाफ में एवदार बनना नहीं चाहता इत्यादि। और भी भैया भगवतीदासजी ने ब्रह्म-विलास में कहा है—

राग उदय जग अंध भयो,
सहजहि सब लोकन लाज गँमाई।
सीख विना सब सीखत हैं,
विषयान के सेवन की चतुराई॥
तापर और रचें रस रीति,
कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझन की अँखियान में,
झोंकत हैं रज राम दुहाई॥

इस सब का अभिप्राय यही है, कि जब सभी संसारी प्राणी इन काम क्रोधादि के वश हो रहे हैं, तिस पर भी उनका और भी वैसा ही साहित्य जुटा देना उनके साथ घोर अत्याचार करना है। इसलिए उनके सामने तो वही आदर्श आना चाहिए, जिसकी उनको जरूरत है और वह आदर्श है "वीतरागता" क्यों कि यही संसारी जनों को चाहिए इसी की उन में कमी है व इसी की जरूरत है।

और वह वीतरागता वीतरागी देव में ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं, वह वीतराग देव जिन (जीते हैं कर्म शत्रु जिसने) अर्हंत सर्वज्ञ आप्त में ही पाई जाती है और उनका साक्षात् अभाव वर्तमान काल में इस क्षेत्र में है। अतएव उनका आदर्श ग्रहण

करने के लिए कारण स्वरूप तदाकार दिगम्बर जैन, वैराग्यमयी, शान्त मूर्ति; पाषाण या धातु की बनाकर रखी जाती है और इसी के द्वारा अवलम्बन लेकर अपने साध्य अर्हंत व सिद्धपद की सिद्धि की जाती है।

बस ! यही अभिप्राय जैन प्रतिमा के पूजने मानने का है, इसलिए यदि प्रतिमा की विधि बन सकती है, तो दिगम्बर जैन प्रतिमा (मूर्ति) ही की, अन्य रागादि भाव दर्शाने वाली प्रतिमाओं की नहीं, ऐसा ही दृढ़ निश्चय करके अन्य सब कल्पनाओं का त्याग करके केवल एक वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत प्रतिमा का अवलम्बन लेकर अपना आत्महित करना चाहिए।

ऊपर कहे अनुसार देव मूढ़ता छोड़ कर लोकमूढ़ता भी छोड़ना चाहिए, इसका लक्षण स्वामी समन्तभद्राचार्य महाराज ने यों कहा है—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥

(र० क० श्रावका०)

नदी, समुद्रादि जलाशयों में धर्म समझ कर नहाना, पत्थरों के ढेर करना, पर्वतों पर से गिरना या अग्नि में पड़ कर मर जाना इत्यादि। कार्य बिना विचारे लोक के देखा देखी धर्म समझ कर या इस लोक परलोक सम्बन्धी सुखों की इच्छा करके करना लोक मढ़ता है।

भावार्थ—गङ्गा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, गोदावरी, सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा, कृष्णा, वैनगङ्गा आदि नदियों या समुद्रों में यह समझ कर नहाना कि इससे हमारे पाप नष्ट हो जाँयगे, बूढ़े पुराने नहाते आये हैं, सभी नहाते हैं, हम भी नहावेंगे, तो हमारे भी पाप छूट जावेंगे, इत्यादि मूढ़ता है।

क्योंकि पाप कुछ शरीर के ऊपर नहीं लिपटे रहते, जो नहाने से छूट जावेंगे, नहाने से तो शरीर का मैल अवश्य ही छूट सकता है, पाप नहीं। क्योंकि यदि इनमें नहाने से पाप छूट सकते, तो इन में निरन्तर रहने वाले मगर मत्स्यादि प्राणी या धीवर, मल्लाह आदि गोताखोर, तैराकलोग सभी मोक्ष होगए होते, पोलिस व कोर्टों की भी जरूरत न होती, क्योंकि पाप करने वाले गङ्गादि नदियों में नहा लिया करते और पवित्र (निष्पाप) हो जाते, उन्हें पकड़ने व पञ्च दण्ड, राज्य दण्ड देने की आवश्यकता ही न रहती, परन्तु ऐसा नहीं होता, किन्तु इससे विपरीत देखा जाता है, कि ऐसे स्थानों पर ही ठग, चोर, व्यभिचारी, गुण्डे विशेष रूप से रहते और वेचारे भोले नर नारियों को धर्म धन लूटा करते हैं। एक बार लोकमान्य तिलक महोदय ने भी अपने व्याख्यान में कहा था, कि लोकों का यह भ्रम है, कि "गङ्गा स्नानान्मुक्तिः" अर्थात् गङ्गा स्नान से मुक्ति होती है, इसलिये उन्हें जानना चाहिए कि "न गङ्गास्नानान्मुक्तिः किन्तु कायमलान्मुक्तिः" अर्थात् गङ्गा स्नान से आत्मा की मुक्ति नहीं, किन्तु शरीर की मल से मुक्ति होती है इत्यादि। सो यदि शरीर के मल ही की मुक्ति होती है, तो शरीर का मल तो किसी भी जलाशय के जल से घर बैठे भी धोया जा सकता है, उसके लिए इतना श्रम उठा कर समय और द्रव्य का व्यय करना व्यर्थ

है। खेद, दुःख और पाप का कारण है, मिथ्यात्व है। वास्तवमें पाप तो अन्तरंग आत्मा से काम क्रोधादि कषायें त्यागने और विषयों से विरक्त होने से ही छूटेंगे, इस लिये पापों से छुटकारा पाना है, तो अपनी श्रद्धा को सुधार कर हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और अतिषय परिग्रह संग्रह की, गृद्धता या ममत्व का त्याग करो, जुवा, मांस, दारू, शिकार आदि व्यसनों को छोड़ो, काम, क्रोध, रागद्वेषादि अन्तरङ्ग शत्रुओं को विजय करो, तात्पर्य-मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्षका त्याग करो, नहाने से पाप छूट जांयगे, इस भोले भाव में पड़े रहकर यह मनुष्य जन्म का सुवर्ण अवसर मत खोदेओ। कितने ही भोले प्राणी मकरादि संक्रांतों में, चन्द्र सूर्य ग्रहण में, एकादशी, पूर्णिमा, सोमव्रती अमावस, होली, दिवाली, कार्तिक व माघ महिनों में इत्यादि कितने ही अवसरों में खास तौर से इन नदियों व समद्र में न्हाने को दूर२से जातेहैं, इन नदियोंके किनारों के नगरों की स्त्रियांतो रात्रि के चार २ या तीन २ बजे से उठ २ कर इसी अन्ध श्रद्धा के वश होकर नहाने चल देती हैं और बहुधा उन दुष्ट नर व्याघ्रों की शिकार होकर अपना धन धर्म और जीवन सर्वस्व खो बैठती हैं, जो इसी के लिये कोई भिखारी के रूप में कोई पण्डों व पुजारियों के रूप में अथवा अन्यान्य ऐसे ही छद्म भेषों में छिपे फिरते रहते हैं और अवसर पाकर छापा मार देते हैं, ऐसे चरित्र प्रायः आये दिन सुना ही करते हैं, फिर भी मूढ़तावश वही बेढङ्गी चाल चली जाती है।

कोई २ सूर्य, गुरु, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि ग्रहों का जप कराते और तरह २ का दान जोषी आदि को देते हैं, कि ये गृह जो हमारी राशि पर आकर क्रूर

दृष्टि करके दुख देरहे हैं, सो जप कराने व दानादि देने से, वे शांत हो जांयगे, परन्तु यह भी भारी भूल है, क्योंकि कोई गृह, नक्षत्र, राशि, तारे आदि कभी किसी को सुख किंवा दुःख नहीं दिया करते, वे तो अनादि काल से अपने २ मार्गो पर अपनी तीव्र या मन्द गति से चलते रहते हैं, ये ज्योतिषी जाति के देवों के विमान है, जो चलते दिखाई देते हैं, इनके भीतर इनके अधिष्ठाता व उसके परिवार के देव देवियां रहते हैं, इस लिये ऐसी कल्पना करना व्यर्थ हैं, कि ये सुख दुख देते हैं, जप व दान से शांत व प्रसन्न हो जाते हैं।

वास्तव में ये अपनी २ चाल पर स्वभाव से चलते हैं, चाहे इनके नाम से मंत्रादि बनाकर कितना ही जप करो या दान करो, अथवा कुछ भी न करो, ये तो अपनी चाल जैसी है वैसे चलेंगे ही, बदलेंगे नहीं, तब यह मिथ्या भाव जपादि का करना निरर्थक खेद का कारण है, पाखण्ड और पाखण्डियों को पोषण करना है, हां! यदि कोई नरनारी अपने उत्तम भावों से बिना फल की इच्छा किये सुपात्र [भक्ति] दान या करुणा-दान, या सच्चे देव शास्त्र गुरु की भक्ति, जप, पूजा व तपादि करेंगे, तो उसका यथा योग्य पुण्य फल उनके शुभ भावों के अनुसार अवश्य ही होगा, तब कोई कहेगा! कि ज्योतिषशास्त्र में जो गृहादि का शुभाशुभ फल बताया है, सो क्या झूँठ है। तो उत्तर यह है कि ज्योतिष शास्त्र झूँठा नहीं है, उसमें जो उन गृहादिकों का फल बताया सो भी ठीक है, वह इस प्रकार है, कि जब कोई गृह किसी राशि पर आता है या अनेक ग्रह एकत्र हो जाते हैं, तो उस समय या उस राशि में जन्म लेने वाले को

अमुक सुख दुःख, जीवन मरण, हानि लाभ आदि होना चाहिए, ऐसी सूचना मात्र मिलती हैं।

अर्थात् इनके संयोग वियोग आदि से होनहार बात का अनुमान लग जाता है, परन्तु वे ऐसा करते रहते नहीं है। ऐसे छींकादि शकुन भी भावी शुभाशुभ होने के सूचक हैं, अभिव्यंजक हैं, न कि कर्ता हर्ता हैं, यदि वैसा होना होगा तो उन शकुनों में, उन मुहूर्तों में, उन गृहादि संयोग वियोगों में वह कार्य वैसा होवेगा, अन्यथा नहीं, मानों कोई ग्रामान्तर जा रहा है, उसे मार्ग में हानि व लाभ होना है, तो छींक आदि या मङ्गल कलश आदि वैसे ही, उसे मिलेंगे या वह उन्हीं अवसरों में चलेगा, जिससे उसे हानि या लाभ हो, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस छींक आदि शकुनों या गृहों, नक्षत्रों ने वैसा स्वयं जाकर दिया, तात्पर्य—जैसा २ जिस २ जीव का जिस २ अवसर पर जो २ कुछ होना है, वही २ वैसा २ उसी २ अवसर पर उसी २ जीव का उसी २ प्रकार होगा, बाह्य शकुनादि भी वैसे ही मिल जांयगे, इस लिए इन गृहादि का जप करना, सूर्यादि को पानी देना सब व्यर्थ हैं, यह अपने ही पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का फल सुख दुख, संयोग वियोग, जीवन मरण, लाभालाभ आदि रूप होता है, इस लिये इस मिथ्या विश्वास को छोड़ कर सतगुरु देव धर्म की भक्ति व सुपात्र दान, दयादानादि करते जाना चाहिये और आए हुए कर्मोदय जन्य फल को धैर्य व शांति पूर्वक सहन करना चाहिए, क्योंकि बिना फल दिये वह छूटेगा नहीं और खेद खिन्न होने या श्रद्धा बिगाड़ कर मिथ्यात्व रूप पाखण्ड क्रियाएँ करने से

तो उल्टा बढ़ेगा, उसमें भी अनुभाग व स्थिति बढ़ जायगी और नवीन भी अशुभ कर्म अधिक बँध जायगा। अतएव धैर्य धारण कर सहना और सन्मार्ग में स्थिर रहने से लाभ होगा।

यदि अशुभोदय से रोगादि शारीरिक पीड़ा होवे, तो उसकी चतुर वैद्य द्वारा चिकित्सा करानी चाहिये, यदि धन न हो, तो न्याय पूर्वक आजीविका (व्यापार धन्धा, शिल्पादि उद्योग, या नौकरी महनत मजूरी)करना चाहिये। यदि विपक्षी द्वारा उपद्रव होता हो, तो उसका अपने तनसे, धन से, विद्या बुद्धि से, स्वयं अथवा, बन्धु मित्र, राज्य या पचों द्वारा उचित प्रतिकार करना व कराना चाहिये और अपनी व अपने परिवार की, जाति व समाज की, देश व धर्म की, धन की रक्षा करना चाहिए। यदि संतान न हो, तो बुद्धि पूर्वक उपाय यह है, कि सुयोग कन्या का पाणिग्रहण करके ऋतुकाल में गर्भधारण करना चाहिये और यदि इतने पर भी संतान न हो, तो अपने कुटुम्ब का, जाति का, या वर्ण का जो स्वधर्मी व कुलीन घराने का सुन्दर स्वस्थ, बुद्धिमान बालक हो, उसे गोद रखकर अपना बालक समझना चाहिए और यदि बहुत बालक चाहिए, तो अच्छे से अच्छा उपाय तथा इहलोक परलोक दोनों में हितकारी तथा कीर्ति और पुण्य वृद्धि करने का यह है, कि अपनी सम्पत्ति चिरस्थायी रूप से गुरुकुल, छात्राश्रम, श्राविकाश्रम आदि ऐसी विद्या संस्थाओं में लगा देवे, कि जहां समाज व देश के होनहार बालक भोजन वस्त्र, पाठ्य पुस्तकें आदि प्राप्त करते हुए सरस्वती सेवा (विद्यालाभ)

करते रहें और उनकी संतान परम्परा बराबर चलती रहे। इत्यादि अनुकूल पुरुषार्थ ही करना योग्य है, न कि मंत्र, जंत्र तंत्रादि या गृहों के फेर में पड़कर हानि उठाना चाहिऐ। पुरुषार्थ से ही सिद्धि व सफलता होती हैं।

यदि कोई यह कहे, कि जैसे रोग मिटाने को दवा सेवन करते हैं उसी प्रकार अनिष्ट गृह निकालने को मंत्र, जाप्य पूजा दानादि करने तथा भूतादि बाधा दूर करनेको झाड़ा फूकी कराना या अमुक देवी देवता की मान्यता करने में क्या हानि है?

उत्तर-दवा कराने से श्रद्धान में बाधा नहीं आती, शरीर के पुद्गल स्कन्धों में जब कोई स्कंध विषैले होजाते हैं या वात पित्त, कफ आदि उपधातुएं प्रतिकूल भोजन वा जल वायु के या ऋतुपरिपर्तन के निमित्त से, कम बढ़ हो जाते हैं या बिगड़ जाते हैं, तब दवाइयों के निमित्त से उनका संशोधन होता है, रेचन विरेचनादि द्वारा भी दूषित पदार्थ शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं, या लंघन कराकर के उन विकारों को जला दिया जाता है इत्यादि। इससे रोग दूर होना संभव है, परन्तु शरीर में रोग जन्म पीड़ा हो, तब उसकी दवा न करके धूर्त के फेर में पड़कर मंत्रादि का ढोंग करना, उस रोगी को मार देने के समान है। प्रायः चेचक आदि रोगों में तो अज्ञानी लोग, बीमार की दवा नहीं करते और शीतला भवानी, माता, वलिया आदि की पूजा करते हैं, इससे हजारों बालक बालिकाएं अकाल में मर जाते हैं। इसके सिवाय किसी देवी देवता की सेवासे यद्यपि कुछ होता नहीं है, तथापि पुण्योदय होना हो और कदाचित्

किसी को किसी अंश में कुछ सफलता इन देवी देवताओं की मान्यता करते हुए या किसी धूर्त मंत्रादि के ढोंग फैलाने वाले के निमित्त से या जोगी जंगड़ादि के कारण से होगई, तो इनका श्रद्धान यही होजाता है, कि इस देवी देवता या मंत्रवादी, जोगी साधुने ही कर दिया है इत्यादि। इस से वे लोग फिर औरों को भी उन के पूजने मानने की प्रेरणा करने लगजाते हैं और तब इन से सच्चे, देव (अर्हंत) गुरु (निर्ग्रन्थ दिगम्बर) तथा दया धर्म तो बिलकुल दूर होजाते है। इस लिए इन को किसी भी तरह मानना उचित नहीं है।

एक समय मैं एक ब्राह्मण और एक सोनी के लड़के के साथ एक मेले में गया, वहाँ तम्बू लगाकर रहा, सर्दी बहुत होने से सवेरे रेतमें तम्बू के पास लकड़ी जलाकर हम लोग ताप रहे थे, उस समय सोनी पुत्र (जो काला मुसण्ड था) लंगोटी मात्र लगाए चिलम अर्थात् तम्बाकू पीता हुआ कौतुक से बैठा था, सब मनोविनोद की बातें कर रहे थे, इतने में सास-बहू दो स्त्रियां वहाँ से निकलीं, उनमें बहू को गर्भवती देखकर हास्यभाव से सोनी पुत्र कुछ राख (भस्म) हाथ में लेकर बोला, ले भभूति आज ही तेरे लड़का होगा, इस पर वे स्त्रियां कुछ बड़बड़ाती हुई चली गईं, हम लोग भी शौच स्नान करने चल दिये, बाद लगभग १ बजे दिन को जब मैं डेरा रखा रहा था, और दोनों साथी मेला देखने गये थे, वही (सवेरे वाली) बुढ़िया कुछ फल और मिठाई लेकर आई और पूछने लगी, कि सबेरे जो बाबा यहाँ बैठा था, सो कहाँ गया। मैंने पूछा, क्यों क्या काम है ?

बुढ़िया–बेटा ! उनके आशीर्वाद से मेरी बहू को लड़का हुआ है, सो मैं फूलके बदले पांखुरी रूप यह भोग उनके लिये लाई हूं। वे बड़े महात्मा हैं, सवेरे मैं उनको पहिचान न सकी। इसीसे कुछ बोल गई थी, सो उनसे माफी चाहती हूं, मैंने यह कहकर मिठाई फल कौतुक से ले लिए, कि माई वे बाबाजी तो फेरी को निकल गये हैं, उनके तो सब पर दयाभाव हैं, सो चिन्ता न करो, मैं उनको यह सब आने पर दे दूंगा, इस प्रत्यक्ष उदाहरण से जानना चाहिए कि न वह साधु था, न उस बाई का हितैषी, वह तो धूर्त मसखरा था और मसखरी से बोला था यहाँ बाई के गर्भ में बालक था, उसके उसी दिन प्रसूति होनी थी, सो वैसा ही हुआ, और इस धूर्त तथा अपढ़ मसखरे पर उन भोली स्त्रियों की श्रद्धा होगई इत्यादि, बातें प्रायः बना करती हैं और भोले संसारी प्राणी उनमें फँस जाते हैं। इसी प्रकार, मध्यप्रांत के नरसिंहपुर जिले की तहसील गाड़रवाडा के सांई खेड़े ग्राम में नर्मदा नदी के तट पर एक वृद्ध अघोरी बाबा कहीं से आकर ठहर गया। इसकी समस्त क्रियाएं मलिन थीं, खराब से खराब असभ्य शब्दों में निर्लज्जपने से प्रायः सभी दर्शक स्त्री पुरुषों को गालियां बकता था, चाहे किसी पर मल–मूत्र कफादि उठाकर फेंक देता था, थूक देता था, खाद्य वस्तुओं में मलिन वस्तुए व मिट्टी आदि मिलाकर खा जाता था, तात्पर्य-उसकी सब चेष्टायें (बेहोश) पागल जैसी थीं, तो भी वह बहुत पूज्यमान होगया, दूर २ से लोग स्त्रियां यहां तक कि बड़े २ जमीदार सेठ साहूकार वकील और जज तक उसके यहां आशीर्वाद लेने आते थे, बड़े २ घरों की स्त्रियां बहू बेटियां भी आतीं और उसकी असभ्य गालियों को आशीर्वाद मानकर प्रसन्न

कर माथे चढ़ाती थीं, उस स्थान पर कई धर्मशालाएं बन गईं, और सदैव मेला सा भरा रहता था, बात यह थी कि लोगों को उनके भावी अदृष्टानुसार जो होना होता, सो होता तो वही था, परन्तु लोग अपने २ अभिप्रायानुसार उसकी गाली व चेष्टाओं का अर्थ लगा लेते थे, यदि किसी को कुछ इच्छित कार्य होगया तो वह उसी का प्रताप मान कर खूब गुण गान करता, कि दादाजी के प्रताप से यह हुआ। यदि कुछ न होता या उल्टा होता तो कहता कि "दादाजी ने तो ऐसा कहा था, परन्तु मैं मूर्ख नहीं समझा" इत्यादि सटोरियों के माफिक लोग अनुमान लगा लिया करते हैं, वास्तव में वहाँ चमत्कार आदि कुछ नहीं होता, किसी के यश प्रकृति का उदय आता है, तब किसी निमित्त से वह हो जाता है, इस लिये:--

लोगों को यह जान कर श्रद्धान करना चाहिए, कि संसारी प्राणियों को, हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुख, इष्टानिष्ट संयोग वियोग, जो कुछ भी होता है, वह उसके पूर्व संचित पुण्य किंवा पाप कर्मों का उदयजन्य फल है, उसमें बाह्य निमित्त कोई चेतन अचेतन पदार्थ द्रव्य क्षेत्र काल व भावानुसार बन जाते हैं, ये कोई प्रबल कारण नहीं, प्रबल (उपादान) कारण तो पूर्व पुण्य या पाप कर्मों का विपाक ही है, उसीके अनुसार कारण बनजाते हैं।

इसलिये लोगों को चाहिए, कि वे इन कुगुरु (मिथ्यादृष्टि नाना प्रकार के भेष धारी, धूर्त पाखण्डी, मंत्र, तंत्र, यंत्रादि का ढोंग बताने वाले, आरम्भी परिग्रही, विषयी, लोभी, कामी, क्रोधी

आदि कषायी नाम धारी गुरु, साधु) कुदेव (रागी द्वेषी, क्रोधी, कामी, क्रूर, बलिदानादि हिंसाके आयतन देव) कुशास्त्र, (हिंसा, व्यभिचार, चोरी, झूँठ, परिग्रहवृद्धि आदि पापों तथा जुआ, शिकार, दारू, मांसादि व्यसनों के पोषक या एकान्त, विपरीत, अज्ञान, विनय और संशयादि मिथ्यात्वों के पोषक ग्रन्थ) और कुधर्म (त्रस स्थावर जीवों की द्रव्य और भाव-हिंसा से भरे हुए, विषय और कषाय बढ़ाने वाले, व्रत, जप, तप, तीर्थ स्नान, दान, होम, पूजा, जैसे दिनमें लंघन करके रात्रि को खाना, शुद्ध अनाज, घी, दूध को छोड़कर अनन्तकाय कन्द मूलादि व फल फूल खाना, पंचाग्नि तपना, जिसमें अग्नि के संयोग से अनन्ते त्रस स्थावरों का घात हो जाता है, भस्म लपेटना, मृगचर्म बाघंबर रखना, गोमूत्र या गोमय को पवित्र मानकर खाना, हिंसापोषक दान देना, जैसे शस्त्र आदि या गांजा, भंग, चरस आदि साधुओं को देना, बलिदान करना, यज्ञादि में बकरादि पशुओं को होमना, दशहरादि पर्वों में भैंसे, पड़ा आदि मारना, स्त्री दान करना, मरण पीछे इस इच्छासे दानदेना कि ये पदार्थ मृत जीव के पास पहुंच जायगे, श्राद्ध करना, मरण की जीमन [नुकता] करना, किसी तीर्थादि में जाकर बालकों के बाल उतरवाना, रात्रि को जागरण करके जुआ खेलना या विषय वासना व कषायों के बढ़ाने वाले, गीत नृत्य वादित्रादि में मनोरञ्जन करना, पुरुषों को स्त्री का रूप या स्त्रियों को पुरुषों रूप बनाकर गाना, नाचना, इत्यादि या हूरंइयों, गायनियों के नाम से स्त्रियों को जिमाना, हरघट, गणेश चौथ, गोपाष्टमी उत्तरायण आदि व्रत रखना, संक्राति व ग्रहण आदि समयों में अमुक लोगों को अमुक वस्तु का दान देना, अमुक अनाज या

फल खाना, हजामत कराना, गङ्गादि नदियों में नहाना, इत्यादि) को छोड़कर—

सच्चे देव (१८ दोषों से रहित अर्हंत तथा सर्व कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा) विषय कषायों पर विजय पाने वाले निरारंभी निष्परिग्रही, ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहने वाले दिगम्बर साधु* गुरु, मिथ्यात्व के नाशक पूर्वापर विरोध रहित, तत्त्वोपदेश से भरे हुए वीतराग-विज्ञानता के पोषक, संसार व उसके कारण विषय कषायों से विरक्त कराने वाले शास्त्रों और अहिंसामयी वीतराग विज्ञानता को बढ़ाने वाले तथा विषय कषायों व प्रमादादि को छुड़ाने वाले व्रत नियमादि रूप धर्म का (रत्नत्रय, दशलक्षण, षोड़स कारण, अष्टमी चतुर्दशी, अष्टान्हिकादि पर्वों में उत्तम, मध्यम या जघन्य रीति से १६-१६ पहर तक धर्मध्यान पूर्वक उपवास करना, उन दिनों में कोई भी व्यापारिक या गृहादि सम्बन्धी

---

* नोट—यदि ऐसे सच्चे साधू संयमी त्यागी गुरु न मिलें, तो शास्त्रों में कहे अनुसार गुरुओं की मन में स्थापना करके उन्हीं का परोक्ष वँदनादि करना चाहिये, मात्र बाह्य भेष देखकर ठगाना न चाहिये, किन्तु भले प्रकार परीक्षा करके ही मानना चाहिये, क्योंकि वर्तमान समय में अनेक धूर्त अज्ञानी तथा कायर प्रमादी लोग मिष्ट भोजन वस्त्र तथा द्रव्य के लोभ से भी अपने आपको त्यागी, ब्रह्मचारी; एल्लक क्षुल्लक आर्यिकादि व मुनि तक का भेष बनाकर विचरने लगे हैं; मुनीन्द्रसागर, ज्ञानसागर, जयसागर आदि के ताजे दृष्टान्त हैं, ताकि धूर्तों की धूर्तता न चले और सच्चे संयमी त्यागी जनों का निरादर या उपेक्षा न होने पावे।

आरम्भ न करना, जिससे वीतराग विज्ञानता बढ़ती ही रहे और विषय कषायें घटें) पालन करना चहिये जैनियों को अपने पर्व दिनों में शारीरिक शृङ्गार न करना चाहिये और न ऐसे वस्त्राभूषण ही पहिरना चाहिए, जो स्वपर को राग व मोह का कारण हों, मात्र शरीर की शुद्धि (पूजा स्वाध्याय धर्म साधनार्थ स्नान) करके सादे मोटे खादी के स्वच्छ वस्त्र शरीर की लज्जा रखने व रक्षार्थ पहिरना चाहिए, क्योंकि सभी जैन पर्व विषय कषायों के घटाने के लिए किए (माने) जाते हैं, उन दिनों में शृङ्गारादि-शरीर संस्कार करना व्रतों में दोष लगाना है, उल्टे राग भाव बढ़ाने वाला है। पर्व दिवसों में विशेष शृङ्गार करने या पौष्टिक खान पान की प्रथा जैनियों को सादगी में बदल देना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्रत्नत्रय और मिथ्या रत्नत्रय का संक्षेप वर्णन किया, अब संसार अवस्था में जीवों को पुण्य पाप ही सुख दुख का कारण होते हैं, उनका संक्षेप स्वरूप भी जानना जरूरी है:—

कुगुरु कुदेव तथा कुशास्त्र व कुधर्म (ऊपर इनका स्वरूप बता चुके हैं) और अतत्वश्रद्धान [जैसे जीव को शरीरादि रूप मानना, राग द्वेष मोहादि आश्रव-बन्धके कारणोंको सुखके कारण समझना, ज्ञान, वैराग्य, सम्यग्दर्शन व चारित्रादि संवर और निर्जरा के कारणों को कष्टदायक मानना, मोक्ष से जीवों का पुनः संसार में आना मानना, किसी एक ईश्वर को सृष्टि का कर्ता हर्ता व रक्षक मानना) को छोड़ कर, जिनेन्द्रभाषित जीव [देखने जानने वाला, सुख का व दुख का वेदन करने वाला

चेतना लक्षण युक्त] अजीव [जड़ अचेतन] आस्रव [पुद्गल स्कन्धों का अशुद्ध जीव के परिणामों के निमित्त से, जीव की ओर आकर्षित होकर आना] बंध [उक्त आए हुए नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धों का जीव के प्रदेशों को सब ओर से घेर कर पहिले के बँधे हुए कर्म पुद्गल स्कन्धों के साथ बंध जाना] संवर [कर्म आने के द्वाररूप मिथ्यात्व कषाय अविरत प्रमाद व योगों को रोकना, तथा इसके प्रतिपक्षी सम्यक्त्व व्रत समिति गुप्ति आदि का पालन करना, उपसर्ग और परीषहों को, केवल उनके ज्ञाता द्रष्टा रह कर शांति भाव से सहन करना] निर्जरा [पहिले बंधे हुए कर्मों को तपश्चरणादि के द्वारा संवर पूर्वक क्रम से निर्जीर्ण करके खिराते जाना] और मोक्ष [सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से सदा के लिये छुड़ाकर अपनी असली शुद्ध अवस्था में जीव का प्राप्त हो जाना) ये सात तत्त्वों तथा पुण्य और पाप मिलाकर नव पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करके तथा इन नव तत्त्वों में से शुद्धात्मा को द्रव्यकर्म [ज्ञानावरणादि रूप ८ द्रव्य कर्म] नोकर्म [शरीरादि] व रागद्वेषादि भाव कर्मों से भिन्न जानकर श्रद्धा करके जो अपने आत्मा से पञ्चेन्द्री व मन सम्बन्धी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द व इनको इष्टानिष्ट चिंतवन रूप विषयों तथा कोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा [ग्लानि] स्त्रीवेद [पुरुष से रमने की इच्छा] पुरुष वेद [स्त्री से रमने की इच्छा] नपुंसक वेद [स्त्री व पुरुष दोनों से रमने की इच्छा] आदि कषायों को यथासंभव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के अनुसार व्रत संयमादि के द्वारा घटाते जाना यही पुण्यास्रव व

पुण्य बंध, जिसका फल देव, मनुष्य या तिर्यंच गति में में किंचित् इन्द्रिय जन्य सुख प्राप्त होता है, कहलाता है।

[स्मरण रहे कि व्रत, तप, दानादि कार्यों में न तो शक्ति को छिपाना चाहिये और न कभी शक्ति से अधिक ही करना चाहिए, क्योंकि शक्ति छिपाने में प्रमाद, कायरता व माया रूप संक्लेश भाव होते हैं और शक्ति से अधिक करने में ख्याति, लाभ, पूजादि प्रीतिरूप मान कषाय से संक्लेश भाव होते हैं या भावी-काल में अशक्ति आदि बढ़ जाने से धर्म साधन भार-रूप मालुम होने लगता है और यम-नियम की रक्षार्थ संक्लेश भावों से करना पड़ता है या अशक्ति व निर्धनतादि के कारणों से छोड़ देने का अवसर आजाता है, जिससे संक्लेशता बढ़ जाती है, अथवा मानादि कषायों वश संयम तपश्चरण आदि पालना सो भी संक्लेश परिणामों से किया जाता है और इन संक्लेश भावों से ही पापास्रव व पापबंध, जिसका फल चतुर्गतिरूप दुख हैं, होता है] अथवा मिथ्यात्वादि [पहिले बता चुके हैं।] सहित जो हिंसादि पापों व जुआ आदि व्यसनों का सेवन करना, अभक्ष्य पदार्थ व मद्य, मांसादि खाना, रात्रि को खाना, बिना छना पानी पीना सच्चे देव, धर्म गुरु, की निन्दा वा अपवाद करना, पंचेन्द्रियों तथा मनके विषयों में स्वच्छन्द होकर प्रवर्तना, क्रोधादि कषायों की स्वपर आत्माओं में वृद्धि करना इत्यादि। ये सब संक्लेश भाव हैं, इससे पाप बन्ध ही होता है।

तात्पर्य—मिथ्यात्व के उदय में जो विषय कषायों की तीव्रतारूप भाव होते हैं वे सब पाप भाव हैं—दुःख के कारण हैं।

और मिथ्यात्व के अभाव में जो विषय कषायों से अरुचिरूप मन्द भाव होते हैं वे सब पुण्य भाव हैं।

मिथ्यात्व सहित तीव्र कषायों व विषयाभिलाषाओं की वृद्धि रूप, भाव पाप और सम्यक्त्व सहित कषायों की मन्दता व विषयों में अरुचिरूप, भाव पुण्य है।

पुण्य बन्ध में राग सहित संयम, सराग सम्यक्त्व आदिरूप विशुद्ध (शुभ) भाव कारण हैं और पाप बन्ध में मिथ्यात्वसहित विषय कषायों की तीव्रतारूप परिणाम कारण हैं।

इस लिए सुखाभिलाषी प्राणियों को सदैव अपने परिणामों का ध्यान रखना चाहिए, उन्हें कभी संक्लेश रूप नहीं होने देना चाहिए। यथासंभव विशुद्ध (शुभ) बनाते हुए शुद्ध (पुण्य व पाप भावों से रहित अकषाय) भावों की ओर लक्ष्य रखना चाहिए, क्योंकि यद्यपि पुण्य (विशुद्ध) भावों से कथंचित् पुण्य बन्ध रूप इन्द्रिय विषय सुख होता है, परन्तु है तो बन्ध ही और फल भी उसका पराधीन सान्त सुख है और शुद्ध भावों से सम्पूर्ण कर्मों का नाश होकर, अक्षय अविनाशी स्वाधीन आत्मीक सुख मिलता है और वास्तव में उपादेय भी वही है, इसलिए शुभ भाव व क्रिया करते हुए भी लक्ष्य शुद्ध ही होना चाहिए।

वास्तव में हमारे दान, शील, जप, तप, संयम, पूजा, तीर्थ यात्रा आदि सभी धार्मिक बाह्य क्रियायें, मिथ्यात्व रहित अपने आत्मा से विषय कषाय घटाने या मिटाने के हेतु ही होना

चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सहित परिणामों की शुद्धि बिना ये सब क्रियाएं मृतक के शृंगारवत् निरर्थक हैं, और वे ही सम्यक्त्व सहित परिणामों की शुद्धि सहित स्वर्गादि व अनुक्रम से मोक्ष के साधन रूप सार्थक हैं।

इसलिए यह उत्तम नर जन्म, स्वस्थ शरीर, आर्यखंड का निवास और दुर्लभातिदुर्लभ परम पुनीत जिन धर्म को पाकर प्रथम अपने श्रद्धान को ठीक करना चाहिए और फिर ज्ञान वैराग्य को बढ़ाते हुए यथाशक्ति चारित्र को धारण करना चाहिए। जिससे नर जन्म की सार्थकता व सुअवसर का लाभ प्राप्त कर सको।

यह शंका भी मन में नहीं रखना चाहिए, कि इस (पंचम) काल में इस क्षेत्र से तो मोक्ष नहीं है, तब व्यर्थ का खेद क्यों करें?

अथवा स्त्रियों को भी यह शंका नहीं रखना चाहिए, कि हमको तो मोक्ष होता ही नहीं, तब हम क्यों व्यर्थ खेद करें? क्योंकि:—

यद्यपि यह सत्य है कि वर्तमान काल में इस क्षेत्र से मोक्ष नहीं होता, परन्तु क्या अन्य (विदेह) क्षेत्रों से भी नहीं होता? होता ही है। वहां तो सदैव मोक्ष मार्ग चालू रहता है और उपशम व क्षयोपशम सम्यक्त्व, तो यहां अब भी सिद्धान्तानुसार हो सक्ता है, तब क्यों नहीं उद्यम पूर्वक सम्यक्त्व को प्राप्त करके यथाशक्ति चारित्र धारण किया जाय, जिससे उत्तम देव पर्याय प्राप्त करके अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त हो, या विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् निमित्त मिलाया जाय।

स्त्रियों को भी उदास होने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वर्तमान क्षेत्र काल में तो पुरुषों को भी मोक्ष नहीं होता और सम्यक्त्व व चारित्र तो पुरुषों के समान तुमको भी हो सकता है; जिससे तुम स्त्रीलिंग छेदकर पुरुषों के समान ही देवगति या विदेहादि क्षेत्रों में जन्म पासकती हो, तुम्हारी आत्मा तो स्त्री नहीं है वह तो अलिङ्ग है और लिंगादि आकार तो नाम कर्म के उदय जनित शरीर के अङ्ग हैं, जो नाशवान हैं। इस लिए तुम को भी बुद्धि पूर्वक तत्त्वाभ्यास करते हुए शक्ति अनुसार व्रतादि पालना चाहिए। धर्म के समस्त अङ्ग जैसे पुरुषों को पालने की आज्ञा है, वैसी ही स्त्रियों को भी है। इस लिए उन्हें पीछे या उदास न रहना चाहिए।

धर्म का सम्बन्ध किसी व्यक्ति, वर्ण, या देश से नहीं है, उसे तो जो धारण करे, वह उसी का है। इस लिए ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र आदि हिन्दू और यवन, ईशाई, हिन्दुस्थानी, जर्मन, अमेरिकन, रसियन, जापानी, चिनाई, ग्रीस, आरब, अंग्रेज, अफरीदी, टर्किस, इटालियन, अबीसीनियन आदि सभी इसे धारण कर सकते हैं।

धर्म बाल, युवा, वृद्धादि अवस्थाओं से भी बँधा नहीं है, इसे सभी धारण कर सकते हैं।

धर्म की कोई खास भाषा नहीं है, उसके सिद्धान्त जो अटल हैं, किसी भी भाषा में कथन किए जा सकते हैं।

धर्मका कोई क्षेत्र खास नहीं है सभी क्षेत्र, जहाँ अहिंसादि धर्म पाले जा सकते हैं, क्षेत्र हैं।

काल भी कोई नहीं है, जब भी चाहे कोई इसे धारण कर सकता है।

तात्पर्य--जाति वर्ण, लिंग, अवस्था, क्षेत्र, काल आदि कोई भी धर्म धारण करने में वाधक नहीं हो सकते, सभी धारण कर सकते हैं, किन्तु यदि वाधक हैं, तो केवल अपना प्रमाद हठ या पक्षपात, सो इसे छोड़ देना चाहिए।

व्यवहार चारित्र तो प्राणियों को अपने द्रव्य क्षेत्र काल व भावानुसार तथा अपनी शक्ति अनुसार यथा संभव पालना चाहिए, परन्तु श्रद्धा तो ठीक जरूर कर लेना चाहिए, इसमें न तो शरीर को ही कष्ट उठाना पड़ता है और न द्रव्य (धन) भी खर्चना पड़ता है, केवल दिशा का फेर मात्र है, क्योंकि यदि श्रद्धा यथार्थ होगई, दिशा वदल गई अर्थात् संसार दिशा से मोक्ष मार्ग की दिशा प्राप्त होगई तो धीमें या जल्दी चलकर यह जीव कभी भी इच्छित स्थान (मोक्ष) अर्थात् सच्चे सुख को प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं। सो ही श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य भगवान् ने कहा है—

जं सक्कई तं कीरई जं च न सक्कई तंच सद्दहणं।
सद्दहमानो जीवो पावई अजरामरं ठाणं॥

अर्थात् क्रिया तो शक्ति अनुसार करो और जो न कर सको तो उसकी श्रद्धा तो अवश्य रक्खो, क्योंकि श्रद्धावान जीव ही कभी अजर अमर पद को पा सकेगा।

पण्डित द्यानतरायजी ने भी कहा हैं—

कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति बिना श्रद्धा धरो।
द्यानत श्रद्धावान अजर अमर पद भोगवे॥

सम्यग्बोधानुरागी—

दीपचन्द्र वर्णी।

प्रशस्ति ।
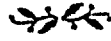
दोहा ।

ऋषभ आदि महँवीर लग, चौबीसों जिन राय ।
सांप्रत काल विषै भये, वन्दू मन वच काय ॥ १ ॥

अर्हंत्सिद्ध सुसूरि नमि, नमि पाठक मुनिराय ।
स्याद्वाद वाणी नमूं, दया धर्म मन लाय ॥ २ ॥

अतीत अनागत काल के, वन्दू सब जिन राय ।
अब प्रशस्ति वर्णन करूं, कैसे ग्रन्थ रचाय ॥ ३ ॥

पद्धड़ी छन्द ।

इक मध्यप्रांत के मध्य जान । नरसिंहपुर नगर कहो बखान
तहँ जिन मंदिर हैं शिखर वंद । दर्शन कर भवि पावैंअनंद॥

अरु जैन दिगम्बर धर्म धार । परवारजु श्रावक अति उदार ॥
तिनमें सुगरए दरयावलाल । निवसें जिन धर्मी दयापाल॥

तिन पुत्र कुंजमन चतुरसार।अरु नाथुराम गुणगण भंडार॥
दोऊ बन्धुन में अति प्रेम। वर्तें निज वृष व्रत आदि नेम॥

दोहा ।

तनय कुञ्जमन के भए, मूलचन्द्र परवीन ।
पूरण भैया, प्रेम भए, इनके ये सुत तीन ॥ ७ ॥
सो सब निज परिवार युत, गाड़रवारा ग्राम ।
जाय बसे बाणिज्य हित, छोड़ जन्म भू ठाम ॥ ८ ॥
द्वितिय तनय दरयाव के, जे गुणि नाथूराम ।
सुत दश भए तिनके तदपि, बचे पंच गुण धाम॥९॥

चौपाई ।

दीपचन्द्र पहिले गुणवान । दूजे ताराचंद्र महान ॥
तीजे वीर जु कालूराम । छोटेलाल चतुर गुण धाम ॥१०॥
पंचम सुत भूपेन्द्र कुमार ।सुखी सबहि सह निजपरिवार॥
दैव गति ऐसी कछु भई । ताराचंद देव गति लई ॥११॥
दीपचंद्र त्यागो गृहवास । वर्णी पद धारो सुखरास ॥
धर्म प्रभावन हेतु भ्रमंत । जैन धर्म उपदेश करंत ॥१२॥
जैन धर्म में दृढ़ परतीत । जगसे रहें सदा भयभीत ॥
पालें चारित शक्ति प्रमाण । गुणी जनों को राखे मान ॥

दोहा ।

सुत राजेन्द्र नरेन्द्र युत, भाई कालूराम ।
अरु भूपेन्द्र कुमार भी, हाल रहें रतलाम ॥१४॥

सुत देवेन्द्र हरिजय सहित, भाई छोटेलाल।
रहें अहमदाबाद जिन, बोर्डिङ्ग के गृहपाल॥१५॥
जैन मित्र मंडल सभा, इन्द्रप्रस्थ मंझार।
वीर जयंति महोत्सव, करैं प्रभावक सार॥ १६॥
दीपचंद्र वर्णी तहां, गए निमंत्रण पाय॥
मंत्रि सिंह उमरावजी, तिनसे कही बनाय॥१७॥

चौपाई।

जैन धर्म धारी नरनार। मानें मिथ्यामत दुखकार॥
तिनको सन्मारग दरशायं। ऐसों ट्रेक्ट लिखो सुखदाय॥

दोहा।

तिनकी लख यह प्रेरणा, भव जीवन हित जान।
यह सुबोधि दर्पण लिखो, मिथ्या तम हन भान॥१९॥
लाकरोड़ा शुभ ग्राम इक, गुर्जर प्रांत मंझार।
तहाँ ग्रन्थ पूरण कियो, 'दीप' स्वपर हित धार॥२०॥
ज्येष्ठ शुक्ल श्रुत पंचमी, अब्द वीर सुखकार।
तीर्थंकर[२४] भज काय[६] रख, निज उपयोग[२] सम्हार॥

श्रीऋषभ ब्रह्मचर्य्याश्रम,

(दिगम्बर जैन गुरुकुल) चौरासी, मथुरा।

यही एक ऐसी सामाजिक संस्था है, जो प्रायमरी पास बालकों को प्रविष्ट करके कम से कम १८ वर्ष की अवस्था तक रखकर उनको सु-संस्कारी, स्वावलम्बी उच्च कोटि के धार्मिक मार्मिक विद्वान् बनाती है। इसमें धार्मिक क्रिया-काण्ड के साथ उच्च कोटि की धर्म शिक्षा तो दी ही जाती है, किन्तु साथ ही न्याय, व्याकरण, साहित्य, गणित, भूगोल, अंग्रेजी आदि व्यावहारिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा भी (जैसे कपड़ा, दरी, निवार, फीता, गलीचा आदि बुनना और प्रत्येक प्रकार का कपड़ा सीना आदि) दीजाती हैं। अतएव प्रत्येक जैनी को अपने होनहार तीक्ष्ण बुद्धि के बालक प्रविष्ट कराकर लाभ उठाना चाहिये, तथा प्रत्येक माँगलीक प्रसंगों व पर्वों पर सदैव इसकी सहायता करते और कराते रहना चाहिए और यथावसर इसका निरीक्षण परीक्षण करके अपनी शुभ सम्मति देकर इसे विशेष उन्नत बनाना चाहिए।

निवेदक—

मन्त्री—श्रीऋषभ ब्रह्मचर्य्याश्रम,

गुरुकुल, चौरासी, मथुरा।